चिद्काय की आराधना

णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

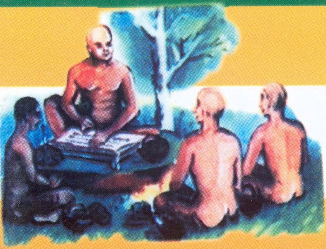

णमो आइरियाणं

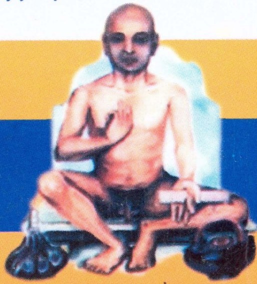

णमो उवज्झायाणं

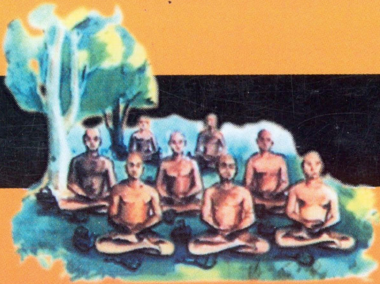

णमो लोएसव्वासाहूणं

प्रकाशक
श्रीमति उमराव देवी जगनमल सेठी
कुन्दकुन्द भवन, D-154, मोती मार्ग, बापु नगर,
जयपुर - 302015

ग्रन्थ परिचय

" **चिद्काय की आराधना** " नामक यह अपूर्व ग्रंथ मोक्षमार्ग का, परमात्मा बनने का मार्ग प्रगट करता है। इसमें सर्व प्रकार से उपादेय अपनी ही आभ्यन्तर चिद्काय जो भगवान स्वरूप है, जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, की आराधना करने का सुंदर एवं अभूतपूर्व वर्णन किया गया है। इसमें आचार्य माघनन्दि द्वारा रचित ध्यानसुत्रों का आश्रय कर निज चिद्काय की महिमा का वर्णन किया गया है और निज चिद्काय में लीनता करने की प्रेरणा की गई है ।इसमें परमात्मा बनने का उपाय सरल शब्दों में प्रगट किया गया है ।

इसको पढने से मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में जो हमारी विपरीत मान्यतायें हैं वे सब दूर हो जाती है और अपना उपयोग अपनी चिद्काय में लगाने का उत्साह प्रगट होता है ।बस! आपने एक बार अंतर्दृष्टि कर अपना उपयोग अपनी चिद्काय में लगाया तो आपको इतना अधिक आनन्द आयेगा कि फिर आपको बहिर्मुख रहना कभी भी अच्छा नहीं लगेगा ।

निज चिद्काय की आराधना करने से आपको अत्यधिक आनन्द होगा और ऐसा अनुभव होगा कि मानो आप पंच परमेष्ठी भगवन्तों के समान उत्कृष्ट जीवन जी रहे हैं।

जिन्होंने निज चिद्काय का अनुभव किया, वे धन्य हो गये; वे इस भयंकर दुःखरूप भव समुद्र से हमेशा के लिये पार हो गये ।इस कारण आप इस ग्रन्थ को चित्त एकाग्र कर पढ़ें, सुने और तदनुसार सदा आचरण करें।

हमारे अन्य प्रकाशन अनुभव की कला, ध्यानामृत, अध्यात्म आराधना, सामायिक पाठ एवं ध्यान विधि तथा ध्यान की ऑडियो सीडी मंगाकर पढने–सुनने का भी अनुरोध है।

चिद्काय की आराधना
ही
मुक्ति का मार्ग है

संकलन कर्ता

जगनमल सेठी, जयपुर

प्रकाशक

श्रीमती उमरावदेवी जगनमल सेठी

कुन्दकुन्द भवन

डी-154, मोतीमार्ग, बापूनगर, जयपुर-302015 7

फोन नं. : 0141-2706657

प्रथम संस्करण: 2000 (जून, 2009)
मूल्य: दस रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान:

श्री जगनमल सेठी
डी-154, मोतीमार्ग, बापूनगर
जयपुर-302015 फो. 0141-2706657

श्री कैलाशचन्द सेठी
प्रिंट एक्सप्रेस, 7 पार्क स्ट्रीट, एम. आई. रोड
जयपुर-302001 फो. 0141-4018981, 9001099201

श्री वीतराग विज्ञान प्रभावना मंडल
133/70, एम. ब्लाक, किदवई नगर
कानपुर (उ.प्र.) फो. 0512-2611062, 3114789

श्री नंगानंग दिगम्बर जैन परमागम मंदिर
सोनागिर जिला दतिया (म.प्र.) फो. 07522-262310 262307

श्री गजपंथ सिद्धक्षेत्र
आनन्दीवन, नंदीश्वर आश्रम, चामरलेणे, नाशिक (महाराष्ट्र)

श्री जैन मठ, मूढ़बिद्री (कर्नाटक)

SPECTO VISION
एम. आई. रोड, जयपुर-302001 फो. 0141-2372035

चिद्काय की आराधना

मंगलं भगवान वीरो, मंगल गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं।।
सर्व मंगल मांगल्यं, सर्वकल्याण कारकं।
प्रधानं सर्व धर्माणां, जैनं जयतु शासनं।।
शुद्ध सिद्ध अर्हन्त अरु, आचारज उवझाय।
साधुगण को मैं सदा, प्रणमूं शीश नवाय।।
देव शास्त्र गुरु को नमन, करके बारम्बार।
करूँ भाव पूजा प्रभो, यही मुक्ति का द्वार।।
प्रणमूँ आतमदेव को, जो है सिद्ध समान।
यही इष्ट मेरा प्रभो, शुद्धातम भगवान।।
भवदुःख से भयभीत हूँ, चाहूँ निज कल्याण।
निज आतम दर्शन करूँ, पाऊँ पद निर्वाण।।

ज्ञानी जीव सम्यग्दर्शन को कल्याण की मूर्ति कहते हैं। इसलिये हे भव्य जीवो! सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करने का अभ्यास करो। हे वीतराग जिनेन्द्र! आपको अत्यन्त भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ। आपने इस पामर के प्रति अनन्तानंत उपकार किये हैं। हे आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी! आपके वचन भी स्वरूप अनुसंधान में इस पामर को परम उपकारभूत हुये हैं, इसलिये आपको परम भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है, किन्तु अनादि से स्वरूप के अनभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है। यदि कोई यथार्थ रूचि पूर्वक समझना चाहे तो बहुत सरल है। निज जीवास्तिकाय को कर्मबंधन से मुक्त करने के लिये जीव पूर्ण स्वतंत्र है; किन्तु पर में कुछ भी करने के लिये जीव में किंचित् भी सामर्थ्य नहीं हैं। अपने आत्मा में इतनी अपार स्वाधीन सामर्थ्य विद्यमान है कि यदि बहिर्दृष्टि से उल्टा चले तो नरक जा सकता है और अन्तर्दृष्टि करके सीधा चले तो केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध हो सकता है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रूचि के अभाव में जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को, अपनी ही चिद्काय को ही प्राप्त नहीं कर पाया। यह चिद्काय ही भगवान है। परम शान्ति का अनुभव करने के लिए निज चिद्काय की अचिन्त्य सामर्थ्य पर विश्वास करके अपने उपयोग को निज चिद्काय में लीन करना चाहिये।

धर्म की शुरूआत सम्यग्दर्शन से होती है। कहा भी है–

'हे सर्वोत्कृष्ट सुख के हेतुभूत महा मंगलकारी सम्यग्दर्शन! आपको अत्यन्त भक्ति पूर्वक नमस्कार हो।'

इस अनादि संसार में अनन्तानन्त जीव सम्यग्दर्शन के बिना अनन्तानन्त दुःखों को भोग रहे हैं। आपकी परम कृपा से मुझे स्वरूप की रूचि हुई, परम वीतराग स्वभाव, निज चिद्काय की दृढ़ प्रतीति उत्पन्न हुई और मुझे कृतकृत्य होने का मार्ग ग्रहण करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हे जीवो! यदि आत्म कल्याण करना चाहते हो तो पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट करो। अंतर्दृष्टि से स्वतः शुद्ध और समस्त प्रकार से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की रूचि, विश्वास, प्रतीति करो। अपनी चिद्काय का लक्ष्य और उसी का आश्रय करो। इसके अतिरिक्त सर्व की रूचि, लक्ष्य और आश्रय छोड़ो।

त्रिकाली चिद्काय सदा शुद्ध है, परिपूर्ण है और सदा प्रकाशमान है। भगवान! शांति तो तेरी ही दिव्य काया में भरी हुई है। भाई ! एक बार तू अपने घर को देख। सब ओर से उपयोग हटाकर निज घर जो तेरा चिद्तन है उसको अंतर्दृष्टि कर देख। तेरी साड़े तीन हाथ की देह जो सामने दीख रही है, उसी में तेरी गुप्त निधि छिपी हुई है। इसी देह में पाँव के अंगूठे से लेकर मस्तक तक देहप्रमाण तेरी दिव्यकाया स्थित है, असंख्यात प्रदेशों का पुंज भगवान पूर्णानन्द का नाथ विराजमान है। तू उसे नेत्र बन्द कर अंतर्दृष्टि करके देख। तेरी यह चिद्काय ही प्रभु है, सिद्ध है। उसका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन प्रगट होगा और परिणति निर्मल होगी।

ताहि सुनो भविमन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण।
मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।।

हे भव्य जीवो! यदि अपना हित चाहते हो तो मन को स्थिर करके गुरु की शिक्षा सुनो। इस संसार में प्राणी अनादि काल से मोहरूपी मदिरा पीकर अपने आत्मा को, अपनी ही दिव्य काया को भूलकर संसार में व्यर्थ भटक रहा है।

इस संसार में जीव पंच परावर्तन कर भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोह कर्मोदय रूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है। वे विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होते हैं और उस दाह का इलाज इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं।

इस जीव ने काम-भोग की कथा तो अनन्त बार सुनी है, परिचय में ली है और अनुभव में ली है; इसलिये सुलभ है; किन्तु परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आत्मा की कथा कभी न सुनी है, न परिचय में ली है और न अनुभव में ली है; इसलिये एक मात्र वह सुलभ नहीं है।

आचार्य महाराज बारम्बार प्रेरणा देते हैं कि हे जगत के जीवों! ऐसा उत्तम अवसर पाकर तुम कहाँ भटक रहे हो? तुम्हारी चिद्काय परमात्मरूप है, अविनाशी देवस्वरूप है। उसी की तुम सदा भावना करो, ध्यान करो।

श्री योगीन्द्रदेव कहते हैं कि तू सब विकल्पों को छोड़कर केवल एक परमात्मा, शुद्धात्मा, चिद्काय का ध्यान कर। इस देह में ही शुद्धात्मा का निवास है, ऐसा निश्चय कर। इसी उपाय से ही कर्म ढीले पड़ेंगे और स्वरूप में पूर्ण लीन होने पर सारे कर्मों का नाश होकर परमात्मा बनोगे। यही एक मोक्ष का मार्ग है।

आत्मस्वभाव से सब शुभाशुभ कर्मों को भिन्न जानो। आत्मस्वभाव अत्यन्त निर्मल है। द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म जड़ हैं और भगवान आत्मा निर्मल है, अमल है। अमल स्वरूपी दिव्यकाय, भगवान आत्मा का जिसने आश्रय लिया, वह पर्याय में अर्हंत-सिद्ध हो गया।

मनुष्य जन्म में ही ध्यान की सिद्धि होती है, संसार से मुक्त होता है। इसलिये इस अवसर को नहीं गँवाना चाहिए। मनुष्य जन्म प्राप्त करने के लिये देव भी तरसते हैं।

समाधिशतक, श्लोक 52 में कहा है कि प्रारम्भिक अवस्था में साधक को पूर्व संस्कारवश बाह्य विषयों में सुख प्रतीत होता है और आत्मा में दुःख। ध्यान का अभ्यास हो जाने पर बाह्य विषयों में दुःख प्रतीत होता है और आत्मा में सुख। ध्यानाभ्यास की प्राथमिक अवस्था में ध्यान करना दुखद लगता है और ध्यान रहित रहना सुखद। इसलिए लोग ध्यानाभ्यास नहीं कर पाते। ध्यानाभ्यास की आगे की अवस्थाओं में ध्यान करना सुखद लगता है और ध्यान रहित रहना दुखद। इसलिए ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

जैसे जल की बूँद बार-बार गिरने से पत्थर में भी छेद हो जाता है, उसी प्रकार ध्यान के अभ्यास से जड़ बुद्धि जीव भी परमात्मा हो जाता है। इसलिए ध्यान का सदा अभ्यास करना चाहिए।

यह चिद्काय का ही माहात्म्य है कि उसके रहते हुए पुद्गलकाय मुर्दे के समान सड़ती नहीं है और उसके निकल जाने के बाद सड़ने लग जाती है। चिद्काय के निकल जाने के बाद शरीर के सुन्दर होने पर भी कोई उसे छूना भी नहीं चाहता। इससे ज्ञात होता है कि चिद्काय ही सारभूत है। वह मैं ही हूँ, मुझे मेरी ही महिमा नहीं आई। मेरी वास्तविक संपत्ति, मेरा धन, मेरी निधि तो मेरे ही पास है, मैं ही हूँ। बाह्य काय में ही अभ्यंतर काय जो स्वसंवेदन से अनुभव में आ रही है, वह ही मेरा धन है। भगवान आत्मा प्राप्त देह में ही देह के आकार में विराजमान है, वहाँ पर अपने उपयोग को जोड़ने का अभ्यास करो। इसी से कर्मों से मुक्ति मिलेगी।

इन्द्रिय विषयों में जो आनन्द मानता है, वह तो विष को पीता है। अरे ! मैं अपने को ही भूला हुआ हूँ। कितना खेद है कि अपने स्वरूप को जानने का मैंने कौतूहल भी नहीं किया। अरे! ऐसी बात सुनकर भी मुझे रोना भी नहीं आता है कि मैंने स्वयं अपना ही बहुमान, अपनी ही महिमा अब तक क्यों नहीं की। अहा!

आनन्द का सागर अपने अन्तर में उछल रहा है। उसे तो मैं देखता नहीं हूँ और तृण समान तुच्छ विषयों को ही देखता हूँ।

अरे! अपने ही अन्तर में दृष्टि लगाकर चैतन्य समुद्र को देखो, उसमें डुबकी लगाओ। अपनी चैतन्य काया को छोड़कर बाहर में सब मायाजाल है, दुःख का पहाड़ है, घोर संसार है।

शरीर और आत्मा एक क्षेत्रावगाही होने पर भी जो स्वसंवेदनगोचर क्षेत्र है, वह आत्मा का क्षेत्र है। हमें अन्तर्दृष्टि से पैर से मस्तक पर्यंत अपने क्षेत्र में अपना आत्मा ही स्वसंवेदनगोचर होता है। स्वसंवेदनगम्य अपने दिव्य शरीर के प्रति हमारी अक्षय अनन्त रुचि होनी चाहिए।

अपने क्षेत्र में ही अन्तर्दृष्टि द्वारा हमें अपना अनुभव करना चाहिए। अपने स्वरूप का अनुभव करना ही तीर्थ है। हमें उपयोग लगाने के लिए अपना भगवान आत्मा, अपनी चिद्काय मिली है। इसलिए हमें अपने उपयोग को सदा अपनी चिद्काय में ही लगाना चाहिए।

निज सुखद जीवास्तिकाय का ध्यान करना आत्मा का स्वभाव है, धर्म है, जो आत्मा को संसार के दुःखों से निकाल कर अनन्त सुखमयी मोक्ष में धरता है।

जो सुख-दुःख रूप से संवेदन में आने वाले आभ्यंतर शरीर को आत्मा नहीं मानते, उसका अनुभव नहीं करते; वे प्रगट मिथ्यादृष्टि है, आत्मघाती हैं, दुरात्मा हैं।

समय रहते ही अपना कार्य कर लेने में समझदारी है। मृत्यु को याद रखकर कार्य करना, मृत्यु के लिए सदा तैयार रहना। मृत्यु आने से पहले सावधान होना। मृत्यु के काल में कायरों को अपने पास नहीं आने देना। मृत्यु कभी भी आ सकती है। इसलिये एक-एक समय मूल्यवान है। मृत्यु आने से पहले अपना हित कर लेना। उपयोग हर समय उपलब्ध है, अपना काम करो तो करो, नहीं करो तो नहीं करो। यह सब अपने ऊपर ही निर्भर है। उपयोग तो चिद्रकाय का है। चिद्काय में लगे तो मोक्षमार्ग है, मोक्ष है और चिद्काय के बाहर लगे तो

संसारमार्ग है, संसार है। सब उपयोग का ही खेल है। इसलिये ध्यान मुद्रा में बैठकर उपयोग को अपनी ही चिद्काय में, आभ्यंतर शरीर में, पाँव से लेकर मस्तक तक लगाने का निरंतर अभ्यास करो। इससे ही कर्म कटेंगे और कर्म नाश कर परमात्म दशा प्रगट होगी।

भगवान ने कहा है कि बहिर्दृष्टि का फल संसार है और अंतर्दृष्टि, द्रव्यदृष्टि का फल मोक्ष है। तुम्हारे पास क्या चीज की कमी है? अपनी दिव्यकाय भी मौजूद है, उपयोग भी मौजूद है। जीव पर का तो कुछ कर सकता नहीं है,। तुझे क्या करना है? ऐसे अपने को समझाना। वास्तव में हमें अपने ही दिव्यकाय का गौरव, महिमा आनी चाहिए।

अपने असंख्य प्रदेशों और गुणों की अपेक्षा तो मैं सदा परमात्मा हूँ। मगर पर्याय में परमात्मा प्रगट करना है, सो वह कैसे हो? उस का उपाय तो एक यह ही है कि भगवान की तरह ध्यान मुद्रा में बैठ जाओ। उसी प्रकार आँखें बन्द करके अपने उपयोग को अपनी ही चैतन्य काया में लगा दो। यह जो बाहर शरीर दिख रहा है, इसी में पाँव के अँगूठे से लेकर मस्तक तक अपनी आभ्यंतर काय है, जो इन्द्रियों से अगोचर है, किन्तु अतर्दृष्टि से स्वसंवेदनगोचर है, वही भगवान आत्मा है और वह मैं ही हूँ। मुझे आज तक अपनी ही महिमा नहीं आई। इसलिये दुःख उठा रहा हूँ। वह महिमा ध्यान के माध्यम से ही आयेगी।

हे भाई! तेरी भूल से ही तुझे कर्म बन्ध है। भूल यही है कि स्वयं ने स्वयं का, अपनी दिव्यकाय का, स्वरूप का अनुभव, ध्यान नहीं किया। इसी से बंधन है। इसलिए ध्यान करने का उपदेश दिया जाता है। यदि अपनी भूल से कर्म बंधन नहीं हो तो मोक्ष के लिए शुद्धात्मा को ध्यावो, ऐसा उपदेश क्यों दिया जाता? भूल है, कर्म बन्ध है और उससे छूटने का उपाय भी है। बंधन के समय ही द्रव्य की अपेक्षा, प्रदेशों की अपेक्षा पवित्रता का पिंड प्रभुस्वरूप आत्मा अन्दर विराज रहा है, जिसका लक्ष्य करने से भूल टलती है, बंधन टलता है और मोक्ष प्रगट होता है। ऐसे प्रभुस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं करने से ही पर्याय में कर्मबंध है।

अन्दर में भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप महा प्रतापवंत त्रिकाल विराज रहा है। उसकी दृष्टि करनां सम्यग्दर्शन है, जो धर्म की पहली सीढ़ी है।

जिस प्रकार अन्धा पुरुष सूर्य को नहीं देख सकता, उसीप्रकार प्राप्त देह में भगवान सच्चिदानन्द प्रभु विराजता है, उसे ध्यान रहित पुरुष नहीं देख सकता है। इन्द्रिय सुख की रुचि वाले को चैतन्य चमत्काररूप प्रभु आत्मा नहीं दिखता। उसका आत्मा कर्मों के द्वारा ढका हुआ है।

प्रमाद छोड़कर निरंतर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। अपने उपयोग को अपनी आभ्यंतर काय जो अपना भगवान आत्मा है, पूर्ण आनन्द का नाथ है, उसके सन्मुख करने का बारम्बार प्रयत्न करना चाहिए।

भगवान की वाणी में यही आया है कि द्रव्यदृष्टि से तुम स्वयं भगवान हो। आत्मा, शुद्धात्मा, चिदानन्द प्रभु तुम्हारे ही देह में मौजूद है, जो तुम स्वयं हो। जब देह में ही देह प्रमाण शुद्धात्मा का निवास है तो तुम उसको बाहर तीर्थों में, मन्दिरों में कहाँ खोज रहे हो? मंदिरों में, तीर्थों में जो भगवान की प्रतिमा है, वह तुम्हारा भगवान नहीं हैं। तुम्हारा भगवान तो तुम्हारे ही देह में विराजमान तुम्हारी आभ्यंतर काया है जो अंतर्दृष्टि करने पर स्वसंवेदन से सदा तुम्हारे अनुभव में आती है।

उपयोग का बाहर जाना ही दुरुपयोग है। जब तक उपयोग बाहर जायेगा, तब तक बहिरात्मपना रहेगा। उपयोग को चैतन्य काया में लगाने का नाम ही उपयोग का सदुपयोग करना है, शुद्धोपयोग करना है, उससे ही कर्मों का नाश होता है अन्य कोई उपाय तीन लोक में नहीं है।

अहा ! मैं ही शक्तिरूप से सदा तीर्थंकर हूँ, जिनवर हूँ, मुझमें ही जिनवर बनने के बीज विद्यमान हैं। अपनी चिद्काय का अनुभव करने, ध्यान करने का इतना उल्लास आना चाहिए कि मानो परमात्मा से मिलने जा रहे हों। हमारा परमात्मा हमें बुला रहा है कि आओ, आओ ! अपने चैतन्यधाम में आओ। निज चिद्तन में मात्र आनन्द ही आनन्द भरा है। इसलिये हमें उसकी महिमा, माहात्म्य, उल्लास, उमंग आनी चाहिए।

अरे प्रभु! तुम स्वभाव से ही परमेश्वर हो। तुम्हें अपने से विमुख होने में शर्म आनी चाहिए। अरे! कहाँ तेरी प्रभुता और कहाँ ये बहिर्मुखता के विकारी भाव – मिथ्यात्व – संसार – नरक – निगोद में अवतार।

अरे! भगवान तू कहाँ चला गया? भगवान तेरा विरोध नहीं है। प्रभु! तुझसे विमुख भाव का विरोध है। जिसकी माता अच्छे परिवार की पुत्री हो, जो पर पुरुष की ओर आँख उठाकर न देखे; उसका पुत्र वेश्या के यहाँ जाये! उसीप्रकार यह परिणति अपने स्वरूप को, अपने घर को, अपनी चिद्काय को छोड़कर पर घर में जाये तो शर्म आती है, वह कुशील है, व्यभिचारी है। हे प्रभु! हे भगवान! तेरे घर में क्या चीज की कमी है, जो तू बाहर परद्रव्यों में, परघर में, माथा मारता–फिरता है, अपने आनन्दमयी घर को छोडकर बाहर फिरता है, यह तो पागलपन है।

वास्तव में हमें सब प्रकार से सुअवसर प्राप्त हुआ है। उसमें अपने को अपना कार्य कर लेने जैसा है। अपनी भूल को सुधार लेना है। दुनिया की आलोचना करने जायेगा तो यह अवसर गँवा देगा। हम वस्तु स्वरूप को समझ कर भूल को सुधार लें तो भगवान बनने में देर नहीं लगती है। इसका उपाय यही है कि हम अपने उपयोग को बाहर से समेट लें और अन्तर्दृष्टि करके अपनी चैतन्य काया में, जीवास्तिकाय में जोड़ने का सदा अभ्यास करें।

बाहर के लिये तो हमें मर ही जाना चाहिए। पर में मेरा कोई अधिकार ही नहीं है। अरे भाई! तू ऐसा महान पदार्थ है कि कर्मोदय के अभाव में राग के एक रजकण को भी तू नहीं कर सकता है। उस पदार्थ की दृष्टि कर। बहिर्दृष्टि छोड़कर अन्तर्दृष्टि कर एक अपनी दिव्यकाय में ही लीन हो जा, जिससे तुझे शांति प्रगट होगी।

अरे जीव! तुझे कब तक संसार में भटकना है? संसार में अनन्त काल अनन्त दुःखों को भोगकर भी क्या तू थका नहीं है? अरे! अब तो अपनी ही चिद्काया में आकर आनन्द का आस्वादन कर। अरे भाई! तू अपनी ही चिद्काया को क्यों भूल गया है? जो भगवान का रूप है, वही तेरा रूप है। साढ़े तीन हाथ

की जो देह दिख रही है, उसी में तेरी आभ्यतंर काय तुझे स्वसंवेदन से अनुभव में आती है, वही तू है। अनन्तकाल से आज तक इधर अपने रूप की ओर झाँका ही नहीं। तुझे अपने घर का ही पता नहीं है। तू बावला होकर पर घरों में फिर रहा है। तेरे घर का पता अर्हंत परमात्मा बता रहे हैं कि मेरे पास जब आया है तो मुझे देखकर मेरी तरह ही ध्यान मुद्रा में बैठकर अन्दर में देख और अपने घर की सम्हाल कर। क्यों पर घरों को अपना घर मानकर दुःखी हुआ संसार में भ्रमण कर रहा है? अब तो अपने घर में आ जा। जैसे जल की धारा बहती हो, वैसे धर्म की धारा बह रही है। पीना आता हो तो पीले। जैसे पानी पीने से तृषा शांत होती है, आहार करने से क्षुधा मिटती है, औषधि लेने से रोग मिटता है, इसीप्रकार निज चिद्काय का सेवन करने से संसार मिटता है।

बहिर्दृष्टि करने से जीव बाह्य वस्तुओं के प्रति राग–द्वेष–मोह करता है। अंतर्दृष्टि करने पर उसे अपने ही आत्मा का, अपने ही दिव्य आभ्यन्तर शरीर का, अपने स्वरूप की रुचि होती है, विश्वास आता है कि मैं स्वयं ही आनन्द स्वरूप भगवान आत्मा हूँ, मैं स्वयं ही परमात्मस्वरूप हूँ। अपनी चिद्काय की रुचि उसको पुनः पुनः अन्तर्मुख कर मोक्ष में ले जाती है।

जिसे आत्मा की यथार्थ रुचि हो, उसे चौबीस घंटे उसी का चिंतन, मनन और अन्दर में खटका बना रहता है। नींद में भी उसी का रटन चलता रहता है। अरे! सम्यग्दृष्टि नरक की भीषण वेदना में भी अन्तर में उतर जाता है। स्वर्ग की अनुकूलता में भी पड़ा हो तो भी अनुकूलता का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में उतर जाता है। मगर यहाँ तो किंचित् प्रतिकूलता होने पर भी अरे! मुझे तो यह कठिनाई है, यह मुसीबत है, ऐसा कर–कर के काल गँवा देता है। जरा सी अनुकूलता होने पर उसमें मग्न हो जाता है। जो बीत गया, सो बीत गया, अब तो बाहर का मोह छोड़कर अंतर में उतर जा, नहीं तो बहुत पछताना पड़ेगा। ऐसे अमूल्य नरभव को विषयों में मत गँवा।

सर्व सिद्धांत का सार यही है कि बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुखता कर ध्यान का निरंतर अभ्यास करो। अन्तर्मुख रहने का नाम ही ध्यान है। समस्त संकल्प–

विकल्प जाल को छोड़कर अन्तर में अपने जीवास्तिकाय का, चिद्काय का ध्यान करने का निरंतर अभ्यास करना चाहिए। यही भगवान की दिव्य देशना है।

हे जीवो! क्या तुम भगवान के दर्शन चाहते हो? यदि हाँ तो तुम निश्चय से यह जानो कि तुम स्वयं अपने प्रदेशों और गुणों की अपेक्षा अभी भगवान हो। कर्म के सम्बन्ध से प्राप्त मूर्त देह में तुम स्थित हो और स्वानुभवगम्य हो। नख और केश को छोड़कर सम्पूर्ण देह के कण-कण में तुम विद्यमान हो। दूध-नीर के समान देह और तुम एकक्षेत्रावगाह मिले हुए हो। लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी होने पर भी कर्म के सम्बन्ध से प्रगट संकोच-विस्तार शक्ति के कारण तुम्हारा आकार प्राप्त पुद्गल देह के समान है। प्राप्त पुद्गल देह इन्द्रियगम्य है, लेकिन तुम्हारी चिन्मय देह स्वसंवेद्य है। तुम निश्चय से अमूर्त हो, पुद्गल से अप्रभावी हो, लोकाग्र निवासी हो, तथापि कर्मबंध के कारण पुद्गल से प्रभावी हो, लोक में विचरण करते हो, इसलिए व्यवहार से मूर्त कहलाते हो। नेत्रों को बन्द कर देह के किसी स्थान पर तुम स्वसंवेदन रूप से देखो तो तुम्हें वर्णादि रहित तुम्हारी परमार्थ सुख शांति की कणिका का अनुभव होगा तथा बहुमूल्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नों की भी तत्क्षण ही प्राप्ति होगी।

तीर्थंकरादि महापुरुष भी देह में स्थित निज भगवान को स्वसंवेदन रूप से देखते हैं, अनुभव करते हैं।

मोक्षपाहुड़, गाथा 103 में कहा है-

'हे भव्य जीवो! तुम इस देह में स्थित क्या है, उसे जानो। लोक में स्तुति करने योग्य, ध्यान करने योग्य तीर्थंकरादि हैं, वे भी उसका ध्यान करते हैं।'

समयसार गाथा 17-18 में कहा है-

यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए।
अति प्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहिचानिए।।

जो परमार्थ सुख की कामना हो तो निज जीवराजा को जानना चाहिए।

राजा अर्थात् भगवान। इस पर से यह अर्थ स्वाभाविकरूप से निकलता है कि जो दुःख नहीं चाहते हैं, उनको जीव राजा के प्रतिपक्ष पर द्रव्यों को नहीं जानना चाहिए। यही शुद्धोपयोग तुम्हारा स्वभाव है और प्रगट पर्याय में तुम्हारे भगवान होने का कारण है।

जिनको संसार के दुःखों से थकान लगी हो, जो इस संसार समुद्र से पार होना चाहते हों, जो चारों गतियों से भयभीत हैं, ऐसे जीवो को गुरु कहते हैं कि महान भाग्य से मनुष्य भव मिला है, जैन कुल मिला है, सब तरह के साधन मिले हैं, ऐसे पंचम काल में जहाँ चारों ओर विषय-कषायों का बोलबाला है, ऐसे निकृष्ट काल में भी हमें महान पुण्य उदय से समयसार आदि ग्रंथ मिले हैं। इन आगमों का सार एक भगवान आत्मा का ध्यान करना ही है।

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं कि हमें महान पुण्य के उदय से मनुष्य भव मिला है, जैन कुल मिला है, सब तरह के साधन मिले हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई तो यह मनुष्य भव व्यर्थ ही जानो। एक तरफ सम्यग्दर्शन का लाभ होता हो, दूसरी तरफ तीन लोक का राज्य मिलता हो तो तीन लोक का राज्य छोड़कर सम्यग्दर्शन का लाभ लेना। तीन लोक के राज्य का नियत काल में पतन होगा और सम्यग्दर्शन का लाभ हो जायेगा तो शीघ्र ही अविनाशी मोक्ष सुख को पायेगा। ऐसी सम्यग्दर्शन की महिमा है। सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं।

समयसार में कहा है-

'व्रत और नियमों को धारण करते हुए तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थ से बाह्य हैं, जिन्हें परमार्थभूत आत्मा की, अपनी चिद्काय की अनुभूति नहीं है, वे निर्वाण को प्राप्त नहीं करते।'

पंडित मक्खनलाल जी ने भव्यप्रमोद में अज्ञानी को निम्न चेतावनी दी है-

चारों वेद पुराण अठारह, षट् दर्शन पढ़ लीना है।
पंडित-शास्त्री-न्यायतीर्थ-उपदेशक बने प्रवीना है।।

किये बहुत उपवास कठिन तप, करि-करि कृशतन कीना है।
किन्तु निजातम को जाने बिन, अंधे की ज्यों सीना है।।

समयसार कलश में कहा है-

'जो व्यवहार क्रियाकाण्ड में ही मग्न हैं, वे मानव परमार्थ स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव नहीं कर सकते। जिनको चावलों की भूसी में चावलों का ज्ञान है, वे तुषो को ही पायेंगे, उनके हाथ में कभी चावल नहीं आ सकते हैं। व्यवहार धर्म केवल बाह्य सहकारी है। आत्मानुभव ही परमार्थ धर्म है। जो अपनी ही चैतन्य काया का अनुभव करते हैं, वे ही अपनी आत्मा को, शुद्धात्मा को पाते हैं।'

हे भाई! निश्चय रत्नत्रय पाये बिना यह जीव मोहकर्म के उदय से संसार में भ्रमण करता है। इसलिए रत्नत्रय को प्राप्त करने का उपदेश जिनदेव ने दिया है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।।

धर्म के ईश्वर तीर्थंकर देव कहते हैं- **'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही धर्म है, आत्मस्वभाव है और इसके विपरीत संसार दुःखों को बढ़ाने वाला मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अधर्म है।'**

निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता धर्म है; व्यवहार रत्नत्रय धर्म का सहकारी है।

आत्मा को प्रथम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों द्वारा यथार्थतया जानकर पर्याय पर से लक्ष्य हटाकर अपने त्रिकाली सामान्य चैतन्य स्वभाव, निज दिव्यकाय जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है, उसकी ओर दृष्टि करने से और उपयोग को उसमें लीन करने से निश्चय रत्नत्रय प्रकट होता है। समयसार गाथा 38 में रत्नत्रय प्राप्त करने का उपाय बताते हैं-

मैं एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञान दृग् हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणु मात्र भी नहीं अरे।।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणत आत्मा यह जानता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, परद्रव्य किंचित् मात्र भी अर्थात् परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

अनुभवी जीव ही यह जानते हैं कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूँ सदा अरूपी हूँ। जो जीव ऐसा अनुभव करता है उस जीव ने प्रसन्न चित्त से भगवान आत्मा की बात सुनी है। वह नियम से मोक्ष को प्राप्त करता है।

तत्त्वानुशासन में कहा है-

'जो कोई अपने आत्मा का अनुभव करता हुआ परम एकाग्र भाव को प्राप्त कर लेता है, वह वचन अगोचर स्वाधीन सहज आनन्द को पाता है।'

बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि रखने वाला बहिरात्मा सम्पूर्ण शास्त्रों को जान लेने पर भी मुक्त नहीं होता और निज चिद्काय का अनुभव करने वाला अन्तरात्मा उन्मत्त हुआ और सोता हुआ भी मुक्त हो जाता है।

सम्यग्दर्शन गृहस्थों के भी होता है। वहाँ पर सराग देखने में आता है। वीतराग स्वसंवेदन मुनियों को ही होता है।

योगसार में कहा है-

'गृहस्थ हो या मुनि, जो अपनी चिद्काय में रमण करेगा, वह तुरंत मोक्ष सुख पावेगा, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। जो कोई अपनी चैतन्य काया का, शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं, वे ही पुरुष धन्य हैं।'

निश्चय से इन्द्रियगोचर शरीर से मैं भिन्न हूँ। यह इन्द्रियगोचर शरीर यहाँ ही रह जाएगा और मेरा स्वसंवेदनगोचर चिद् शरीर मेरे साथ जायेगा। जब इन्द्रियगोचर शरीर भी मेरे साथ जाने वाला नहीं है, तब स्त्री, पुत्र, धन आदि परिवार के साथ

जाने की तो बात ही क्या है? इनका तो इस इन्द्रियगोचर देह के साथ ही सम्बन्ध है, चिद्देह के साथ सम्बन्ध नहीं है।

पंचम काल के मुनि पंचम काल के अप्रतिबुद्ध श्रोताओं को सम्बोधन करते हैं कि तू तो निगोद से बाहर निकल चुका है, मनुष्यपना प्राप्त करके जिनवाणी श्रवण करने आया है और श्रवण कर रहा है तो तू परिणमित होने योग्य ही है, इसलिये सन्देह मत कर। हम भगवान की वाणी का अनुसरण करके तुझसे यह कह रहे हैं कि तू पूर्ण परमात्म तत्त्व है और तद्रूप परिणमन करने योग्य है।

अरे जीव! दूसरा सब भूल जा और अपनी निज दिव्यकाय को सँभाल। यदि तू अपनी चिद्काय की दृष्टि करे तो मुक्त ही है। इसलिये एक बार अन्य सब का लक्ष्य छोड़ दे और ऐसे अपने चिदानन्द स्वभाव निज जीवास्तिकाय जो कि पाँव से लेकर मस्तक तक विराजमान है, उसका एकाग्र होकर लक्ष्य कर। तुझे मोक्ष की प्राप्ति अवश्य होगी। अल्पकाल में तू अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगा।

भगवान आत्मा जब भी देखो तभी हाजिर है। अहो! जब देखो तभी तुम्हारा कारण तुम्हारे पास ही विद्यमान है। उस कारण को नया उत्पन्न नहीं करना पड़ता। उसके आश्रय से कार्य प्रगट हो जाता है। कारण शोधने के लिये कहीं जाना पड़े, ऐसा नहीं है। ध्रुव कारण तो त्रिकाल विद्यमान है और उसे पहिचानने पर मोक्षमार्ग नवीन प्रगट होता है। मोक्ष तो कार्य नियम है और ध्रुवस्वभाव कारण नियम है। कारण नियम को करना नहीं पड़ता, वह तो त्रिकाल है। जब देखो तब वर्तमान में अन्तर में ही उपस्थित है। उसमें अंतर्मुख होने पर कार्य नियम से प्रकट होता है।

अरे रे! अनादि-अनन्त अपने स्वरूप के ध्यान के बिना जीव ने अनन्त दुःख सहन किये, किन्तु समस्त विकारी भावों का अभाव करने वाला निज चिद्काय का ध्यान नहीं किया।

अरे आत्मन्! तुझे संसार के कार्यों के लिए तो समय मिलता है, किन्तु परमार्थ आत्महित के लिए समय नहीं मिलता। इसलिए समझना चाहिए कि तुझे परमार्थ आत्महित प्रिय नहीं है। तुझे संसार के कार्यों में रस है, किन्तु परमार्थ

आत्महित करने के कार्य में रस नहीं है। यदि वास्तव में तुझे परमार्थ आत्महित का रस हो तो अन्य हजारों काम छोड़कर भी निज चिद्काय के ध्यान का उद्यम करे। अब परमार्थ आत्महित के लिये अन्य सभी कार्यों का रस छोड़कर सर्व उद्यम से निज चिद्काय का ध्यान कर।

जितने भी जीव पूर्व में मोक्ष में गये हैं, वर्तमान मे जा रहे हैं और आगे भी जो मोक्ष में जायेंगे, वे सब निज चिद्काय का ध्यान करने से गये हैं, जा रहे हैं और जायेंगे। निज चिद्काय के ध्यान की ही सर्व महिमा है। ऐसा मुनियों के नाथ भगवान जिनदेव कहते हैं। विषय रूपी चाह की दाह को बुझाने में एक निज चिद्काय का ध्यान ही समर्थ है।

भाई! इस समय तुझे सब तरह से उत्तम योग मिले हैं। ऐसा सुयोग को विषय सुख के लिये खोना बहुत बड़ी भूल है। ऐसा सुयोग मिलना बहुत कठिन है। अतः तू इस अवसर में आत्मा का, निज दिव्यकाय का ध्यान कर। कहा भी है-

तातैं जिनवर कथित, तत्त्व अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजै।।

जिन प्रणीत आगम का अभ्यास कर निज चिद्काय का ध्यान कर। इस में आलस्य मत कर। यह भेदज्ञान कर कि जो शरीर आँखों से दीख रहा है, वह निश्चय से मैं नहीं हूँ। यह शरीर तो मूर्तिक है, जड़ है, अचेतन है। इसी क्षेत्र में मेरी दिव्य काया है, जो परमार्थ से अमूर्तिक है, चेतन है, वही मैं हूँ। वह मैं मेरे स्वसंवेदन से अनुभव में आता हूँ।

इन्द्रियों को जीतने का उपाय यही ही है कि आँखें बन्द करके जिन मुद्रा की तरह ध्यान में बैठकर अपनी दिव्यकाया के एक-एक अंग को क्रमशः देखते रहो तथा इसी में लीन रहने का अभ्यास करो।

अपनी दिव्यकाया का ही हमने आज तक विस्मरण किया है। हमने यही माना है इधर देखेंगे तो पुद्गलकाय ही दिखेगी। लेकिन यह अज्ञान है।

यह मनुष्य पर्याय असमानजातीय दो द्रव्यों से बनी हुई है। हम तो अमूर्तिक

चेतन द्रव्य हैं और इसी पुद्गलकाय में स्थित हैं। यहीं पर ही आँखें बन्द करके अपने उपयोग को एकाग्र करके जिनवर की ध्यान मुद्रा में बैठकर ध्यान लगाओ और अपने ही शरीराकार आत्म प्रदेशों को, एक-एक अंग को निहारते रहो, देखते रहो। यही स्वानुभूति है, सम्यग्दर्शन है, धर्मध्यान है, शुद्धोपयोग है।

अपने उपयोग को अपने दिव्य शरीर के बाहर मत भटकने दो। उपयोग तो अपने दिव्य शरीर का है, उसे अपने दिव्य शरीर में ही जोड़ने का अभ्यास करो। जब तक उपयोग बाहर जायेगा, मोह रागादि उत्पन्न होंगे और पर्याय अशुद्ध रहेगी। जब तक हम अपने ही दिव्य शरीर, त्रिकाली भगवान आत्मा का आश्रय नहीं लेंगे, तब तक पर्याय बहिर्मुख और मलिन रहेगी। यदि तुझे इस भयंकर दुःखमय संसार से छूटना हो तो अन्तरंग में सुख का निधान शुद्धात्मा तेरी दिव्य काया है, उसमें अपने उपयोग को जोड़।

यदि थोड़ी-बहुत धर्म बुद्धि हुई तो जीव धर्म के मूल स्वरूप तक नहीं पहुँचता है। शास्त्रों को पढ़कर पंडित बन जाता है, मठ-मन्दिर में रहने लगता है, मठाधीश बन जाता है या फिर केशलुंच करके द्रव्यलिंगी साधु हो जाता है; पर निज चिद्काय का ध्यान करने में अपने पुरुषार्थ को नहीं लगाता है। इसलिये जहाँ का तहाँ ही रहता है, आत्म-कल्याण के मार्ग, मुक्ति के मार्ग पर नहीं चल पाता है। ऐसी स्थिति में मुक्ति की प्राप्ति कैसे संभव है?

योगसार में कहा है-

धन्धे पड़ा सारा जगत, निज आत्मा जाने नहीं।
बस इसलिए ही जीव, यह निर्वाण को पाता नहीं ।।
शास्त्र पढ़ता जीव जड़, पर आत्मा जाने नहीं।
बस इसलिए ही जीव, यह निर्वाण को पाता नहीं।।
पोथी पढ़े से धर्म ना, ना धर्म मठ के वास से।
ना धर्म मस्तक लुंच से, ना धर्म पीछी ग्रहण से।।
जो होयगें या हो रहे या, सिद्ध अब तक जो हुए।

यह बात है निर्भ्रान्त, वे सब आत्मदर्शन से हुए।।
सागार या अनगार हो, पर आतमा में वास हो।
जिनवर कहे अति शीघ्र ही, वह परमसुख को प्राप्त हो।।
सारा जगत यह कहे, श्री जिनदेव देवल में रहे।
पर विरला ज्ञानी जन, कहे कि देह-देवल में रहे।।
देव देवल में नहीं रे, मूढ़! ना चित्राम में।
वे देह-देवल में रहे, सम चित से शुद्ध जान ले।।
श्रुत केवली ने यह कहा, ना देव मंदिर तीर्थ में।
बस देह-देवल में रहे, जिनदेव निश्चय जानिये।।
जिनदेव तन मंदिर में रहे, जन मंदिरों में खोजते।
हंसी आती है कि मानो, सिद्ध भोजन खोजते।।
जिस भांती बड़ में बीज है, उस भांती बड़ भी बीज में।
बस इस तरह त्रैलोक्य जिन, आतम बसे इस देह में।।
जब तक न जाने जीव, परम पवित्र केवल आत्मा।
तब तक सभी व्रत, शील, संयम कार्यकारी हो नहीं।।
जिनदेव ने ऐसा कहा, निज आत्मा को जान लो।
यदि छोड़कर व्यवहार सब तो, शीघ्र ही भव पार हो।।
परभाव को परित्याग कर, अपनत्व आत्मा में करे।
जिनदेव ने ऐसा कहा, शिवपुर गमन वह नर करे।।
आत्मा को जानकर, इच्छा रहित यदि तप करे।
तो परम गति को प्राप्त हो, संसार में घूमें नहीं।।
निज आत्मा को जाने नहीं, अर पुण्य ही करता रहे।
तो सिद्ध सुख पावे नहीं, संसार में फिरता रहे।।
निज आतमा को जानना ही, एक मुक्ति का मार्ग है।
कोई अन्य कारण है नहीं, हे योगीजन! पहिचान लो।।
तुम करो चिन्तन स्मरण, अर ध्यान आतम देव का।
बस एक क्षण में परम पद की, प्राप्ति हो इस कार्य से।।

यदि चाहते हो मुक्त होना, चेतना मय शुद्ध जिन।
अर बुद्ध केवल ज्ञान मय, निज आतमा को जान लो।।
ज्यों मन रमे विषयानि में, यदि आत्मा में त्यों रमें।
योगी कहें हे योगिजन!, तो शीघ्र जावे मोक्ष में।।
ना जानते पहिचानते, निज आत्मा गहराई से।
जिनवर कहे संसार सागर, पार वे होते नहीं।
विरले पुरुष ही जानते, निज तत्त्व को विरले सुने।
विरले करें निज ध्यान, अर विरले पुरुष धारण करे।
हर पाप को सारा जगत ही, बोलता यह पाप है।
पर कोई बिरला कुछ बुध कि, पुण्य भी तो पाप है।।
लोह और सुवर्ण की बेड़ी में, अन्तर है नहीं।
शुभ-अशुभ छोड़े ज्ञानिजन, दोनों में अन्तर है नहीं।।
पुण्य से ही स्वर्ग, नर्क निवास होवे पाप से।
पर मुक्ति रमणी प्राप्त होगी, आत्मा के ध्यान से।।
है आतमा परमातमा, परमातमा ही आतमा।
हे योगिजन! यह जानकर, कोई विकल्प करो नहीं।।
सिद्धान्त का यह सार, माया छोड़ योगी जान लो।
जिनदेव और शुद्धात्मा में, कोई अन्तर है नहीं।।
जिनदेव जो मैं भी वही, इस भाँति मन निर्भ्रान्त हो।
है यही शिवमग योगिजन, ना मंत्र एवं तंत्र है।।
अरहंत सिद्धाचार्य पाठक, साधु हैं परमेष्ठी पण।
सब आत्मा ही है श्री, जिनदेव का निश्चय कथन।।
यह आतमा ही विष्णु है, जिनेन्द्र शिव-शंकर वही।
बुद्ध ब्रह्मा सिद्ध ईश्वर है, वही भगवंत भी।।
इन लक्षणों से विशद, लक्षित देव जो निर्देह है।
कोई अन्तर है नहीं, जो देह-देवल में रहे।।
भव दुःखों से भयभीत, योगीचन्द्र मुनिवर देव ने।
ये एक मन से रचे दोहे, स्वयं को सम्बोधने।।

उक्त गाथाओं में आत्मदर्शन, आत्मलीनता को ही मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र उपाय बताया गया है। आज तक जितने भी जीव सिद्ध हुए हैं, वे सभी आत्मदर्शन से ही हुए हैं और जिन जीवों को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई है, वह आत्मदर्शन के अभाव से ही नहीं हुई है। गृहस्थ हो या मुनि हो आत्मा में वास करने वालों को अति शीघ्र ही परम सुख की प्राप्ति होती है।

यदि निज भगवान आत्मा की खोज करनी है तो देहदेवल में करो, अन्यत्र आत्मा मिलने वाला नहीं है।

देहदेवल में विराजमान आनन्द स्वभावी निज भगवान आत्मा का ध्यान करना ही धर्म है। निज भगवान आत्मा का ध्यान किये बिना कितना ही तप-त्याग करो, कितना ही व्रत, शील, संयम धारण करो, आत्मा का लाभ होने वाला नहीं है। यदि आत्मकल्याण करना है तो अपनी पूरी शक्ति निज भगवान आत्मा का ध्यान करने में ही लगाओ, अन्यत्र उपयोग लगाना कार्यकारी नहीं है।

निज चिद्काय की आराधना पर बल देने का कारण यह है कि यही एक मात्र मुक्ति का मार्ग है। इस जगत में ऐसे पुरुष बहुत विरल हैं जो निज चिद्काय का ध्यान करते हैं।

अध्यात्म ग्रन्थों में निज चिद्काय की आराधना पर सर्वाधिक वजन दिया जाता है। साथ ही पुण्य को पाप के समान भी बताया जाता है। समयसार ग्रन्थ में एक अधिकार पुण्य पाप की एकता के लिए लिखा गया है। प्रवचनसारादि अन्य अध्यात्म ग्रन्थों में भी पुण्य को पाप के समान बताया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से जिस प्रकार पुण्य एवं पाप में अन्तर नहीं है, उसीप्रकार आत्मा और परमात्मा में भी कोई अन्तर नहीं है।

अनादि से जीव को कर्म का बन्धन होने के कारण उसकी पर्याय में नाना प्रकार का उत्पात मचा हुआ है। अनादि मोह कर्म के उदय से बहिर्मुख परिणमन करने के कारण वह दुःखी है। कभी महान भाग्योदय से वह संज्ञी पंचेन्द्रिय होकर निज जीवास्तिकाय के ध्यान रूप मोक्ष का पुरुषार्थ कर मोक्षरूप अविनाशी परमानन्द दशा को प्राप्त करता है।

परमार्थ से निज जीवास्तिकाय ही शिवस्वरूप है, मोक्षस्वरूप है। जिनको मोक्ष की कामना हो, उनको निज जीवास्तिकाय का सतत दर्शन अनुभव, संवेदन, ध्यान करना चाहिए।

हे भाई! धर्म की शुरुआत सम्यग्दर्शन से ही होती है। अहो! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज है। हमने अतीन्द्रिय आनन्द का ध्रुवदल शुद्ध चैतन्य प्रभु की ओर दृष्टि करने का समय नहीं निकाला और सारी जिन्दगी इन्द्रियों के विषय भोगों में ही गँवा दी।

सम्यग्दर्शन अन्तर्दृष्टि का अभ्यास करने से होता है। अपनी अभ्यंतर काया में, अपनी ही दिव्य देह में उपयोग को जोड़ने का नाम ही अन्तर्दृष्टि है, ध्यान है। भगवान आत्मा सर्वत्र देह में विराजमान है। ध्यान मुद्रा में बैठकर अपने ही प्रदेशों को देखने का, अनुभव करने का नाम ही अनुभूति है, सम्यग्दर्शन है, सम्यक्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है। इसलिए बहिर्दृष्टि छोड़कर अन्तर्दृष्टि करने का अभ्यास करो।

जिस प्रकार सिद्धालय में सिद्ध भगवन्त विराज रहे हैं, वैसे ही इस देह रूपी देवालय में, कारण सिद्ध भगवान विराज रहे हैं। कारण सिद्ध प्रभु विराजमान रहते हुए भी हमारी यह दशा क्या हो रही है? हमारा उपयोग बाहर जाने से हमारे सिद्ध भगवान का अपमान होता है, हम आत्मघाती होते हैं; इसलिए हमें संसाररूप इतनी बड़ी सजा मिल रही है।

अगर दुःख से छूटना चाहते हो तो ध्यान मुद्रा में भगवान की तरह बैठ जाओ और अपनी ही दिव्यकाया जो भगवान स्वरूप है, उसमें अपने उपयोग को जोड़ने का अभ्यास करो तो शीघ्र ही सिद्ध भगवान प्रगट रूप से हो जाओगे।

अध्यात्म की ये बातें बाह्य प्रवृत्ति के रसिक जीवों को कठोर लगती हैं। जिसे अन्तरंग में बाह्य विषयों की रुचि छूट गई है और पूर्णानन्द प्रभु भगवान आत्मा की दृष्टि हुई है, उसको धर्मी कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

अर्हंत सिद्धाचार्य पाठक, साधु हैं परमेष्ठी पण।
सब आतमा की अवस्थायें, आत्मा ही है शरण।।

अर्हंतादिक पंच परमेष्ठी हैं आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं, इसलिये आत्मा ही शरण है।

ये पाँच पद आत्मा के ही हैं। जब रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को साधता है तब साधु कहलाता है। जब पठनपाठन में तत्पर मुनि होता है तब उपाध्याय कहलाता है। जब दीक्षा देने वाला होता है तब आचार्य कहलाता है। जब घाति कर्म का नाश करता है तब अर्हंत कहलाता है। जब अघाति कर्मों का नाशकर निर्वाण को प्राप्त होता है तब सिद्ध कहलाता है। इस प्रकार पांचों पद आत्मा ही में हैं। इसलिये आचार्य कहते हैं कि जो इस देह में आत्मा स्थित है वह यद्यपि कर्मो से आच्छादित है तो भी पाँचो पदों के योग्य है। निश्चय से इसके शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना पाँचो पदों का ध्यान करना है।

व्यवहार से पंचपरमेष्ठी शरणभूत हैं और निश्चय से एक निज चिद्काय ही शरणभूत है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ये चार आराधनायें हैं, ये सभी आत्मा में ही चेष्टा रूप हैं, आत्मा की ही अवस्थायें हैं।

आत्मा की रुचि रूप परिणाम सम्यग्दर्शन है, संशय, विमोह एवं विभ्रम से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, रागद्वेषादिक रहित परिणाम होना सम्यक्चारित्र है।

भाई! यह अमूल्य मनुष्य भव मिला है, कल्याण करने का सब तरह से अवसर प्राप्त हुआ है। इसलिये तू मरण का समय आने से पहले ही चेत जा, सावधान हो जा, सदा शरणभूत निज शुद्धात्म द्रव्य का अनुभव करने का प्रयत्न कर।

अपनी ही चैतन्य काया में सर्व उद्यम से अपने उपयोग को जोड़ दे। अरहंते

सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवली पण्णतं धम्मं सरणं पव्वज्जामि, ये सब विकल्प हैं, शुभराग है, इनसे पुण्य बंध होगा, कर्म नहीं कटेंगे।

अरहंत इत्यादि परद्रव्य होने से इस आत्मा को परमार्थ से शरणभूत नहीं हैं। त्रिकाल एक शुद्ध परमानन्द का पिण्ड निज चिद्काय ही सदा शरणभूत है। वह बाह्य देह में सर्वत्र विराजमान है, अंतर्दृष्टि कर वहीं पर उपयोग लगाने से सुख की प्राप्ति होती है। इसलिये शरणभूत निज शुद्धात्म द्रव्य, अपनी ही चैतन्य काया का अनुभव करने का प्रतिदिन अभ्यास करो।

उपयोग को अपने शरीर से बाहर मत भटकने दो। उपयोग चैतन्य का है। देह प्रमाण ही मेरा क्षेत्र है, देश है, धन है, पद है। इसके अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है।

हे प्रभु! अपनी चिद्काया को एक समय के लिये भी नहीं भूल। इस कलिकाल में जब हम चारों ओर देखते हैं तो लगता है कि धर्म ने संन्यास ले लिया है, तप चला गया है, सत्य दूर हो गया है, वनस्पति थोड़े फल देने लगी है, मनुष्य छल-कपट से भर गये हैं, पुत्र पिता से द्वेष रखने लगे हैं, दुर्जन अपना प्रभुत्व दिखा रहे हैं, दाता दरिद्र हो गये हैं, फिर भी बाहर की दुनियां से दूर, बहुत दूर जाकर अन्दर की आत्म दुनिया को ही अन्तर मन से देखते हैं तो भगवान आत्मा तो जैसा का तैसा ही है। उसमें कुछ भी बदलाव नहीं हुआ है, वह तो एक रूप रहता है। इस कारण उसे अनुभव में लेकर इस कलिकाल में भी जन्म-मरण रहित होने का और निज सुखद दुनिया बसाने का कार्य किया जा सकता है। यह कार्य यदि इस जीवन में नहीं किया तो केवल पछतावा ही रह जायेगा। ऐसा मनुष्य भव और सब तरह के साधन मिले हुए हैं। उसमें अपना हित करना चाहें तो कर सकते हैं। बाहर की यात्रा हमने बहुत की है। अब हम अपनी अन्तर यात्रा शुरू करें। बाहर की यात्रा बहिर्मोहदृष्टि है और अन्तर की यात्रा अन्तर निर्मोहदृष्टि है। अन्तर दृष्टि का नाम ही ध्यान है। इसलिये आँखें बन्द करके भगवान की मुद्रा

की तरह बैठ जाओ और अपने उपयोग को अपनी ही आभ्यंतर दिव्यकाया में जोड़ने का अभ्यास करो।

जब उपयोग निज दिव्यदेह की ओर रहे, वह ही सुखद स्वसमय है। जब उपयोग पर में बसे, वह विपत्तिमय परसमय है। यही भेद विज्ञान है। स्वसमय ही मोक्ष है और परसमय ही संसार है।

वैराग्य मणिमाला, श्लोक 64, 70 में कहा है-

'अरे मूर्ख! तू अपने शरीर में विराजमान परमात्मा का अनुभव कर, अन्यथा इस संसार में खूब ही परिभ्रमण करेगा, मूर्खों में तू प्रसिद्ध गिना जायेगा और भविष्य में तू नपुंसक अर्थात् कर्त्तव्यहीन हो जायेगा।'

'तू अपने शरीर में विराजमान सिद्ध भगवान का अनुभव कर, अपने शरीर में विराजमान अपनी ही चैतन्य काया को देख। अपने शरीर में विराजमान परम विशुद्ध आत्मा का स्मरण कर और केवलज्ञान रूपी क्रीड़ा के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर।'

हम अपने को सर्वथा शुद्ध और अरूपी मानकर स्वच्छन्द वर्तन नहीं करें। जब तक द्रव्यकर्म और नोकर्म के साथ हमारा निमित्त-नैमेत्तिक सम्बंध है, तब तक हम निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय का भली भाँति अभ्यास करें। हम ऐसे कार्य नहीं करें जिनसे प्राप्त रूपी देह की क्षति होकर अपने चैतन्य प्राणों का घात हो। हम अपने बाह्य शरीर में ही स्थित अपने स्वसंवेदनगम्य शरीर में अपने उपयोग को बार-बार लगाकर पर्याय में अपने केवलज्ञानादि रूप शुद्ध चैतन्य प्राणों को अति शीघ्र प्रकट करें।

हमारी जो बहिर्मुख दृष्टि है उसे हटाकर अन्तर्मुख दृष्टि करने का, ध्यान करने का प्रतिदिन अभ्यास करें।

जब तक उपयोग बाहर जायेगा, परिणति अशुद्ध रहेगी। जितने शुभाशुभ भाव हैं, वे सब संसार के कारण हैं। इनसे कर्मों का आस्रव होता है। कर्मों का

नाश करने का एक ही उपाय है कि सब तरह के संकल्प-विकल्पों को दूर कर निर्विकल्प होकर भगवान की तरह ध्यान मुद्रा में बैठकर अपने जीवास्तिकाय में ही नित्य विहार करने का अभ्यास करें। यही भगवान बनने का उपाय है। अन्य जानना, देखना, करना भोगना, विचार करना आदि जो जीवो को प्रसिद्ध है, वे सर्व ही कार्य घोर संसार के मूल हैं।

हे जीवो! देव किसी मंदिर में नहीं है, न देव किसी पाषाण में लेप या चित्र में है। देव शरीर रूपी देवालय में विराजमान है, उसका साक्षात्कार करो।

देवालय में देव को देखने से शुभराग होता है, परन्तु देहरूपी देवालय में निज देव को देखने से वीतरागता होती है। शुभोपयोग में चैतन्य मूर्ति आत्मा दिखाई नहीं देता। अपनी चैतन्य मूर्ति का अवलोकन आँखें बन्द करके अंतर में देखने से ही होता है।

यदि स्वभाव में जिनेन्द्रपना नहीं हो तो पर्याय में जिनेन्द्रपना कहाँ से आयेगा? इसलिये यह निश्चित है कि आत्मा स्वयं स्वभाव से जिनेन्द्र है। स्वभाव से हम में और जिनेन्द्र में कुछ भी अन्तर नहीं है। दिगम्बर संतों ने यह रहस्य बताया है। इस रहस्य को धारण करने वाले कोई विरले ही जीव हैं। यह जीव पामर हो गया है जो ऐसा मानता है कि मेरा कार्य धन, घर, स्त्री, पुत्रादि के बिना नहीं चलता है।

ज्ञानी देह-देवालय में आत्मा को देखता है। अज्ञानी जीव भगवान की मूर्ति में ही भगवान मानता है। स्थापना निक्षेप में ही वास्तविक भगवान मान लेना भ्रम है। जो कोई देह-देवालय में भगवान आत्मा का दर्शन करता है, अपने उपयोग को अपनी ही दिव्य चैतन्य काया में जोड़ता है, वह सम्यग्दृष्टि है। जिन मंदिर में विराजमान भगवान हमारे उपकारी हैं, इसलिए पूजने लायक हैं, ऐसा हम माने तो कोई दोष नहीं। ज्ञानी ऐसा मानकर भगवान के दर्शन-पूजन करता है, जिससे पुण्य होता है, किन्तु धर्म नहीं।

समयसार कलश 138 में श्री गुरु संसारी भव्य जीवों को सम्बोधन करते हैं-

'हे अन्ध प्राणियों! अनादि संसार से लेकर पर्याय-पर्याय में यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं वह पद अपद है, अपद है; तुम्हारा पद नहीं है, ऐसा तुम समझो। इस ओर आओ, इस ओर आओ; यहाँ निवास करो। तुम्हारा पद यह है, यह है; जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्य धातु निजरस की अतिशयता के कारण स्थायी भावत्व को प्राप्त है, अविनाशी है।'

जैसे कोई महान पुरुष मद्यपान करके मलिन स्थान पर सो रहा हो, उसे कोई आकर जगाये और सम्बोधित करे कि यह तेरे सोने का स्थान नहीं है, तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातु से निर्मित है, अन्य कुधातुओं के मिश्रण से रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है; इसलिये मैं तुझे तेरा स्थान बतलाता हूँ, वहाँ आ और शयन करके आनन्दित हो। इसी प्रकार ये प्राणी अनादि से रागादि को भला जानकर उन्हीं को अपना स्वभाव मानकर उसी में निश्चित होकर सो रहे हैं, स्थित हैं, उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं, जगाते हैं, सावधान करते हैं कि अंधे प्राणियो! तुम जिस पद में सो रहे हो, वह तुम्हारा पद नहीं है, तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्य धातुमय है, बाह्य में अन्य द्रव्यों की मिलावट से रहित है तथा अन्तरंग में विकार रहित शुद्ध और स्थायी है; ऐसे शुद्ध निज चिद्काय रूप पद का अनुभव कर आनन्दित हों।

आत्मा में अपदभूत द्रव्य भावों को छोड़कर निश्चित स्थिर एक इस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर भाव जो कि आत्मा के स्वभावरूप से अनुभव किया जाता है, उसे हे भव्य! जैसा है, वैसा ग्रहण कर, वह तेरा पद है।

वास्तविक सत् अपना त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा, अपनी चिद्काय ही है, जो देह प्रमाण है। उसकी शरण लें। हमारे ध्यान का ध्येय हमारी चिद्काय ही है। जब तक निज चिद्काय ध्यान का ध्येय नहीं बनेगी, तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने वाली नहीं है, संवर होने वाला नहीं है, धर्म का प्रारम्भ भी होने वाला नहीं है।

धर्म का आरम्भ करने की विधि यह है कि पहले विकल्पात्मक क्षयोपशम ज्ञान में निज शुद्धात्म तत्त्व का स्वरूप समझें, सम्यक् निर्णय करें, पश्चात् समस्त पदार्थों से अपने उपयोग हटाकर अपनी चिद्काय के सन्मुख करें और उसी में ही तन्मय हो जायें। यह आत्म तन्मयता ही मुक्ति का उपाय है। यही धर्म है। इससे ही कर्मों की निर्जरा होकर हमें मोक्ष की प्राप्त होगी।

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्र चिंतामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते, ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।।

यह चिन्मूर्ति आत्मा स्वयं ही अनन्त शक्ति का धारक देव है और स्वयं ही चिंतामणि होने से वांछित कार्य की सिद्धि करने वाला भगवान है।

उक्त समयसार कलश 144 में अचिन्त्य शक्ति वाला देव, चिन्मात्र चिन्तामणि शब्दों से भगवान चिद्काय की महिमा की है। निज भगवान चिद्काय का ही अनुभव करने वाले जीवों को पर पदार्थों के परिग्रह से कोई प्रयोजन नहीं रहता। निज भगवान चिद्काय ही परमेश्वर है। इसकी आराधना करने से परमपद मोक्ष मिलता है।

निज भगवान चिद्काय में लीन होना, उसी से संतुष्ट होना और उसी से तृप्त होना परम ध्यान है। इससे वर्तमान में आनन्द का अनुभव होता है और थोड़े ही समय में ही अरिहंत पद की प्राप्ति होती है।

परम शान्ति का अनुभव करने के लिए हमें अपने उपयोग को निज जीवास्तिकाय में लीन करना चाहिए। निज जीवास्तिकाय की अचिन्त्य सामर्थ्य पर विश्वास करके उपयोग को उसमें लीन करना चाहिए। चिद्काय ही अपना आराध्य देव है, उसी का निरन्तर आराधना करना चाहिए। निज जीवास्तिकाय में उपयोग लीन करने से भीतर सुख का महासागर लहराने लगता है।

एक अपनी चिद्काय में ही हमारा सुख है। इसलिए अपनी चिद्काय से ही सुख प्राप्त करने की भावना हमेशा भाना चाहिए। अपनी चिद्देह का ही सदा अनुभव करना, वेदन करना, ध्यान करना हमारा स्वभाव है, वही स्वर्ग और

मोक्ष का सोपान है। अपनी चिद्देह का लक्ष्य छोड़कर बाह्य जगत को लक्ष्य करना हमारा स्वभाव नहीं है। क्षायिक केवलज्ञान में बाह्य जगत का ज्ञान होना जीव का कार्य-स्वभाव है। अपनी चिद्देह के अनुभवरूप कारण-स्वभाव को प्रगट किये बिना कार्य-स्वभाव की उपलब्धि होना असंभव है। निज जीवास्तिकाय के दर्शन-संवेदन भोग से ही ज्ञानावरण कर्म का क्षय होकर सकल परद्रव्यों का ज्ञान होता है। जितने भी सिद्ध भगवान बने हैं, बन रहे हैं और आगे बनेंगे, वे सब अपनी चिद्काया का ध्यान करने से ही बने हैं, बन रहे हैं और आगे बनेंगे।

धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज किया।
तिनही अनादि भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया।।

जिन जीवो ने मनुष्य पर्याय प्राप्त करके निज चिद्काय की आराधना की है, वे जीव ही धन्य हैं। उन जीवो ने ही अनादिकाल से चले आ रहे पाँच प्रकार के परावर्तन रूप संसार परिभ्रमण का अभाव कर उत्तम मोक्षसुख को प्राप्त किया है।

बाह्य जगत का आज तक हमने जो कुछ जाना है, जो कुछ प्राप्त किया है, आज के बाद जो कुछ जानेंगे और प्राप्त करेंगे, वह सब देहाश्रित होने से मृत्यु होने पर एक ही समय में छूट जायेगा जाना-अनजाना हो जायेगा, प्राप्ति-अप्राप्ति में बदल जायेगी; उसी प्रकार जैसे भूतकाल में अनन्त जन्मों से हमने जो कुछ जाना है, पाया है, वह सब विस्मृत हो गया है, खो दिया गया है। एक स्वाधीन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निज सुखद जीवास्तिकाय का अनुभव, संवेदन, भोग ही पराधीन नहीं होने से मृत्यु के पश्चात् हमारे साथ जाता है।

यह उत्तम मनुष्य पर्याय अल्पायु वाली है। मनुष्य पर्याय में ही ध्यान की सिद्धि संभव है। ध्यान का अभ्यास न कर हम यह अमूल्य एवं दुर्लभ मनुष्य पर्याय खो देते हैं।

हमें सावधान होकर देह प्रमाण अपनी चिद्देह को अन्तर्दृष्टि से देखना चाहिए, अनुभव करना चाहिए, जिसको पुनः पुनः देखने, अनुभव करने पर अल्पकाल में घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान में सब जान लिया जाता है

और अविनाशी अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है और फिर जन्म-मरण नहीं होता। इसलिए मनुष्य भव को विषयों में नहीं गंवाना चाहिए।

मुख्योपचार दु भेद यों बड़भागी रत्नत्रय धरें।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन सुयश-जल-जगमल हरैं ।।

जो पुरुषार्थी जीव सर्वज्ञ-वीतराग कथित निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप जानकर धारण करते हैं तथा करेंगे, वे जीव पूर्ण पवित्रता रूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं और होंगे। गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है, वह व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप जानना चाहिए और उसे निश्चय से उपादेय नहीं मानना चाहिए।

पर द्रव्यों का लक्ष्य मोह कर्म के उदय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमादि के आश्रित होने से पराश्रित है, औदयिक है। हम स्वानुभव नहीं करके परद्रव्यों को जानें और अन्य जीवों को परद्रव्य जानने का उपदेश करें, यह योग्य नहीं है। निज आत्मप्रदेशों का दर्शन, अनुभव, संवेदन, ध्यान स्वाश्रित है। इसलिए हमें निज आत्मप्रदेशों के दर्शन, अनुभव, संवेदन, ध्यान का पुरुषार्थ करना चाहिए। निज जीवास्तिकाय जो स्वसंवेदनगोचर है, वही सुखद है। वही स्वसंवेदन करने पर हमें सुख देती है।

इमि जानि आलस हानि साहस ठानि यह सिख आदरौ।
जबलो न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ।।

यह जानकर रोग या वृद्धावस्था आवे उससे पूर्व ही प्रमाद छोड़कर आत्मा का हित कर लेना चाहिए।

परमार्थ सुख की प्राप्ति निज जीवास्तिकाय के ध्यान से ही होती है; क्योंकि निज जीवास्तिकाय सुखस्वभावी होने से सुख ही है, मात्र व्यवहार से गुण-गुणीरूप भेद है। निश्चय से सुख और जीवास्तिकाय में कोई भेद नहीं है, इसलिये निज जीवास्तिकाय का अनुभव करना ही सुख का अनुभव करना है। सुखार्थी जीव को निज जीवास्तिकाय का ही सतत अनुभव करना चाहिए, पंच

परमेष्ठी भी यही करते हैं। निज जीवास्तिकाय के आश्रय से निज जीवास्तिकाय सुख रूप परिणमन करती है, जिससे हमें सुख का अनुभव होता है।

निज जीवास्तिकाय भले ही कर्मों का बन्धन होने के कारण अशुद्ध पर्याय सहित हो, वह स्वद्रव्य होने से ग्रहण करने के लिए शुचि है, शुद्ध है; उसका ध्यान करने से पर्याय में शुद्धता प्रकट होती है। परद्रव्य भले ही पर्याय में शुद्ध हों, वे परद्रव्य होने के कारण ग्रहण करने के लिए अशुचि हैं, अशुद्ध हैं, हेय हैं; उनका लक्ष्य करने से पर्याय में अशुद्धता प्रकट होती है। अनन्तगुण सम्पन्न हमारी चिद्देह स्वसंवेद्य है, वही हमारी निधि है, चिद्देह के अतिरिक्त बाहर हमारा कुछ भी नहीं है। इसलिए सुखार्थी जीव को अपने उपयोग का सारा श्रम अपनी चिद्देह के प्रति ही करना चाहिए। हमारा अभ्यंतर चिद्काय ही हमारी संपत्ति है। इसीलिये हे भव्य! अपने उपयोग का सारा श्रम उसी के प्रति करो।

यह राग–आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय, अब तो त्याग निजपद बेइये।।

यह राग रूपी अग्नि अनादि काल से निरन्तर संसारी जीवों को जला रही है, दुःखी कर रही है। इसलिये जीवों को निश्चय रत्नत्रय रूपी अमृत का पान करना चाहिए, जिससे राग–द्वेष–मोह–अज्ञान का नाश हो। यह जीव अनादि अज्ञान से विषय–कषायों का सेवन कर रहा है। अब उसका त्याग करके निज जीवास्तिकाय का सेवन करना चाहिए, निज जीवास्तिकाय में ही सदा विहार करना चाहिए। निज जीवास्तिकाय और उसका सुख पैर के अँगूठे से लेकर मस्तक पर्यन्त ही है। परन्तु जो लोग बाह्य पदार्थों में अपना उपयोग लगाते हैं, उनको निज जीवास्तिकाय और परमार्थ सुख का अनुभव नहीं होता, जिससे वे दुःख का ही अनुभव करते हैं।

अपने उपयोग को निज सुखद जीवास्तिकाय में नहीं लगाकर परद्रव्यों में लगाने से मोहकर्म का उदय होकर रागादि परिणाम होते हैं और कर्मबन्ध होता है। अपने उपयोग को निज जीवास्तिकाय में लगाने से ही कर्मों का संवर, निर्जरा

और मोक्ष होता है। बहिर्मुख उपयोग निज चिद्काय से च्युत होने के कारण अचेतन समान होता है और निज चिद्काय भी उपयोग का समवाय नहीं रहने से अचेतन समान होती है।

जिनका चित्त बाह्य पदार्थों में ही स्फुरायमान रहता है, वे मिथ्यादृष्टि हैं। मन-इन्द्रिय द्वार से मोहकर्म का उदय होता है, जिससे रागादि की उत्पत्ति होकर नवीन कर्मों का बन्ध होता है।

नाम कर्म के उदय से पुद्गलों की शरीराकार रचना होती है, उसको बाह्य शरीर कहते हैं। बालगोपाल सबको अपना आभ्यंतर शरीर, भगवान आत्मा सदा स्वयं से ही अनुभव में आता है, किन्तु ज्ञेयलुब्ध होने से ही वे उसका अनुभव नहीं करते।

बाह्य शरीर देवालय है, मन्दिर है, आभ्यन्तर शरीर देव है, परमात्मा है। आभ्यन्तर शरीर एक पारमार्थिक वस्तु है, कारण परमात्मा होने से ध्येय है, उसका ध्यान मोक्ष का कारण है। आत्मप्रदेशों के प्रचय को आभ्यंतर शरीर कहते हैं। वही हमारा स्वरूप है। देह प्रमाण निज असंख्य आत्मप्रदेश ही हमारा वास्तविक धन है। ज्ञानीजन अपने उपयोग को बाह्य पदार्थों से हटाकर उसी में लगाते हैं। वे सदा निज दिव्य काय में ही विहार करते हैं। बाह्य शरीरादि पुद्गल कायें संसार के हेतु होने से हेय हैं। उनके जानने में अपने उपयोग को लगाना संसार का कारण है।

कहा रच्यो पर पद में न तेरो पद यहे क्यों दुख सहै।
अब 'दौल' होउ सुखी स्वपद रचि दाव मत चूकौ यहै।।

हे जीव! पर पदार्थों में क्यों आसक्त हो रहा है? ये तेरे पदार्थ नहीं हैं। पर पदार्थों में आसक्ति कर तू दुःख किसलिये सहन करता है? अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमयी तेरा स्वरूप है, उसमें लीनता करना चाहिये। ऐसा करने से ही उत्तम मोक्ष सुख प्राप्त होगा। इसलिये हे जीव! अब आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर। निज जीवास्तिकाय को अनुभव से पहिचान। उसी में अपने उपयोग को लगाकर

सुखी हो। यह उत्तम अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता। इसलिये इसे न गँवा और विषयों के मोह का त्याग करके मोक्ष प्राप्ति का उपाय कर।

रे जीव। तू अनादिकाल से बहिरात्मपने के कारण दुःखी हो रहा है। अंतरात्मपने रूप यथार्थ पुरुषार्थ कर ही तू सुखी हो सकता है। निज जीवास्तिकाय और उसका सुख पैर के अँगुठे से लेकर मस्तक पर्यंत ही है, ऐसा जानकर निज जीवास्तिकाय में ही अपने उपयोग को लगा। जो लोग बाह्य पदार्थों में ही अपना उपयोग लगाते हैं, उनको परमार्थ सुख का अनुभव नहीं होता। वे दुःख का ही अनुभव करते हैं।

अपने घर को देख बावरे, सुख का जहाँ खजाना है।
क्यों पर में सुख खोज रहा है, क्यों पर का दीवाना रे।।
माटी के ये खेल-खिलौने, माटी तन की रानी रे।
माटी का तन माटी का मन, माटी की रजधानी रे।।
माटी का यह पुतला तेरा, माटी भरा बिछौना रे।
पर परिणति पर भाव निरखता, आतम तत्त्व को भूला रे।
पर भावों में सुख-दुःख माने, झूल रहा भव फूला रे।।
सहजानन्दी रूप तुम्हारा, जग सारा बेगाना रे।
चिन्तामणि सा नर भव पाया, कल्पवृक्ष सा जिनवृष रे।।
गंवा रहा है रतन अमोलक, क्यों विषयों में फंस-फंस रे।
बिखर जायेगा एक दिन तेरा, सारा ताना-बाना रे।।
चारों गतियों में घूम चुका है, अब तो निज का ध्यान धरो।
विषय हलाहल बहुत पिया है, अब समकित रस पान करो।।
अपने क्षेत्र की छाँव बैठ जा, बहुत दूर नहीं जाना रे।
त्रस पर्याय स्थावर बदलता, किये मोह की हाला रे।
कभी स्वर्ग के आंगन देखे, कभी नरक की ज्वाला रे।।
चौरासी के पथिक तुम्हारा, शिवपुर पास ठिकाना रे।
क्यों पर में सुख खोज रहा है, क्यों पर का दीवाना रे।।

'राग परिणाम शून्योऽहम्'

यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अब तो, त्याग निज पद बेइये।।

मेरी चिद्काय स्वभाव से राग, द्वेष, मोह से रहित है; क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित हैं; पाँचो इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द से रहित है; मन, वचन, काय की समस्त क्रियाओं से रहित है; राग-द्वेष आदि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म से रहित है। ख्याति, लाभ, पूजा, सुने हुए व अनुभव किये हुए इष्ट भोगों की आकांक्षा से रहित है; निदान, माया तथा मिथ्यात्व शल्यों से रहित है। रस गारव, ऋद्धि गारव, स्वास्थ्य गारव; इन तीनों गारव, मानों से रहित है। मनोदंड, वचनदंड, कायदंड; इन तीनों दंडों से रहित है।

हे भव्य! राग परिणाम आत्मगुणों को नष्ट कर जीव को संसार में नाना असह्य शारीरिक और मानसिक दुःखा का अनुभव कराने वाला है। यह बहिर्मुखता से उत्पन्न होता है। बाह्य पदार्थो को विषय किये बिना रागादि परिणामों की उत्पत्ति नहीं होती है। रागादि परिणामों का अभाव करने के लिये सुख-दुःख, मित्र-शत्रु, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, श्मशान या महल सब में समता भाव धारण कर अंतर्मुखता का अभ्यास करो। राग परिणामों से शून्य अनन्त महिमावन्त गुणों से युक्त अपनी चिद्काय का सतत ध्यान करो। ध्यान के बल से यह चिद्काय अरिहन्त-सिद्धरूप परिणमन करती है।

अनन्त काल से विषय कषायों की ही पुष्टि की है। अब विषय कषायों का त्याग कर निज पद अर्थात् अपनी चिद्काय को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो। तुम अपने शरीर सदन में विराजमान शोभा सम्पन्न सिद्ध भगवान समान निज चिद्काय का सदा अनुभव करो। शरीर में पाये जाने वाले परम विशुद्ध चैतन्य स्वरूप कर्ममल रहित शुद्धात्मा का दर्शन, अवलोकन करो और अन्त में केवलज्ञानरूपी क्रीड़ा के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करो।

'द्वेष परिणाम शून्योऽहम्'

अयि! कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्,
अनुभवभव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या, साकमेकत्वमोहम्।।

हे भाई! तू किसी प्रकार, कष्ट पाकर अथवा मर-पचकर भी आत्मतत्त्व का कौतूहली होकर इस मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त के लिये पड़ोसी बनकर आत्मानुभव कर, जिससे मूर्त द्रव्य से भिन्न जिसका विलास है, ऐसे अपने आत्मा को सर्व द्रव्यों से भिन्न देखकर पुद्गल द्रव्य के साथ एकत्व रूप मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा।

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होते हैं, उनका नाम राग-द्वेष है। मेरा आत्मा परमार्थ से राग-द्वेष परिणति से रहित है। इष्ट में प्रीति और अनिष्ट में द्वेष करना मेरा स्वभाव नहीं है, ये विभाव परिणाम हैं। हे भाई! राग करना हो तो मोक्ष प्रदायिनी शुद्धोपयोग से कर और द्वेष करना हो तो संसार प्रदायिनी अशुद्धोपयोग से कर।

हे भाई! सम्यग्दृष्टि का हृदय अपने आत्मा के प्रति दया से भीगा हुआ है। इसलिये वह अपने आत्मा को कर्म से छुड़ाने के लिये अपनी चिद्काय का बारम्बार ध्यान करता है। जैसे किसी पुरुष का कीमती हीरा रेत के ढेर में गिर जाता है तो वह पुरुष उस रेत के एक-एक कण को अलग-अलग कर अपने हीरे को पा लेता है तथा जैसे मूर्तिकार पाषाण में से टाँची द्वारा एक-एक अनुपयोगी पाषाण को निकाल कर जिनबिम्ब का निर्माण कर लेता है, ठीक उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि समस्त विभाव परिणामों के जनक मोहकर्म को देह-देवालय में विराजमान अपने परम प्रभु का ध्यान कर नष्ट कर देता है।

हे भाई! अपनी चिद्काय का आश्रय कर द्वेष परिणाम का अभाव करो।

'मोह परिणाम शून्योऽहम्'

मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।
मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जाने।
जो कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन माने।।

यह जीव पर को अपना मान बैठा, निज को पहिचाना नहीं। अपनी दिव्यकाय से च्युत होना मोहकर्म का कार्य है। मेरा आत्मा स्वभाव से मोह परिणाम रहित है। अष्ट कर्मों में मोहनीय कर्म ही प्रधान है; क्योंकि संसार परिभ्रमण का मूल कारण यही है। यह दो प्रकार का है- दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह सम्यक्त्व को व चारित्रमोह साम्यता रूप स्वाभाविक चारित्र को घातता है। हे आत्मन्! इन दोनों के उदय से तुम रागी-द्वेषी-मोही होकर स्वरूप से च्युत हो जाते हो। अतः मोह का नाश करने के लिये अपनी निर्मोह चिद्काय को भजो।

जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय के सम्बन्ध में होने वाला तत्त्व अप्रतिपत्ति लक्षण वाला मूढ़ भाव दर्शन मोह है। बाह्य पदार्थों में होने वाला राग-द्वेष चारित्र मोह है। हे जीव! दर्शनमोहनीय के उदय से उत्पन्न अविवेक रूप मोह परिणाम से तूने बाह्य पदार्थों को अपना मान रखा है। हे भव्य! तुम किस पर मोह करते हो? घर, पुत्र-पुत्री, स्त्री, माता-पिता पर। दूरदृष्टि से देखो तो पाओगे कि इस मोहजाल ने ही तुम्हारा पतन किया है। पुत्र से मोह करते हो। पुत्र सम शत्रु नहीं जग में। जिस पिता ने पाला था, माँ ने नौ माह पेट में रखा था, वही पुत्र शादी के बाद माता-पिता को छोड़कर पत्नी के मोह में फँसकर अपने परिवार के पोषण में पड़ जाता है।

हे भव्य! अनादिकाल से सतत प्रवाहमान आज तक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो; क्योंकि इस लोक में आत्मा वास्तव में किसी प्रकार भी परद्रव्यों के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होता। आचार्य कहते हैं कि हे भाई! मोह का अभाव करने के लिये निज चिद्काय का सतत अनुभव करो।

'क्रोध कषाय रहितोऽहम्'

क्षमा और शांति से सुखी रहै सदैव जीव।
क्रोध में न एक पल रहै सुख चैन से।।
आवत ही क्रोध अंग-अंग से पसेव गिरै।
होठ डसे दाँत घिसै, आग झरै नैन से।।

हे भव्य! क्रोध कषाय जीव की स्वाभाविक परिणति नहीं है। क्रोध कर्म का निमित्त पाकर जीव की पर्याय में क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध विभाव परिणति है, क्षमा जीव का स्वभाव है। शांति में, क्षमा में यह जीव अनन्त काल रह सकता है, किन्तु क्रोध में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकता है। शांति, क्षमा आत्मा के शाश्वत गुण हैं, आत्मा के स्वभाव हैं। क्रोध आत्मा की क्षणिक परिणति है। क्रोध से आत्मा की शांति भंग होती है और अशुभ कर्मो का बंध होता है।

मैं स्वभाव से क्रोध परिणाम से शून्य हूँ। शाश्वत वस्तु मेरी दिव्यकाय ही है। निश्चय से क्षणिक विभाव से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

भाई! पर द्रव्यों का लक्ष्य कर-कर तू अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। पाप कर्मो के उदय से अनिष्ट अनुभव में आने वाले पदार्थों का संयोग होता है और उनका लक्ष्य करने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से बचने के लिये तू अपने अन्तर में अपने स्वरूप का, अपनी चिद्काया का, निज जीवास्तिकाय का, निज शुद्धात्मा का लक्ष्य कर। छद्मस्थ अवस्था में पूरी चिद्काय एक साथ अनुभव में नहीं आती है। इसलिये अपने प्रदेशों को, अंग-उपांगों को क्रमशः देख, उन्हीं में लीन होने का प्रयत्न कर। प्रभु! तू पर द्रव्यों को मत देख। अमूर्तिक प्रदेशों का पुंज प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारी अनाधि-निधन वस्तु तू स्वयं आप है। जिनवर की तरह ध्यान मुद्रा में बैठकर अन्तर्दृष्टि करके अपनी दिव्य काया को देख। इसी से तुझे शांति का अनुभव होगा। हे भाई! अपनी चिद्काय का आश्रय कर क्रोध कषाय का अभाव करो।

'मान कषाय रहितोऽहम्'

मान महा विषरूप, करहि नीच गति जगत में।
कोमल सदा अनूप, सुख पावै प्राणी सदा।।

हे भव्य! मान कषाय जीव की स्वाभाविक परिणति नहीं है। मान कर्म का निमित्त पाकर जीव की पर्याय में मान उत्पन्न होता है। मान विभाव परिणति है, मार्दव (मृदुता) जीव का स्वभाव है। मार्दव में जीव अनन्त काल रह सकता है, किन्तु मान में अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकता है। मार्दव आत्मा का शाश्वत गुण है, आत्मा का स्वभाव है। मान से आत्मा की शांति भंग होती है और अशुभ कर्मो का बंध होता है।

मैं स्वभाव से मान परिणाम से शून्य हूँ। शाश्वत वस्तु मेरी दिव्यकाय ही है। निश्चय से क्षणिक मान परिणाम से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

मेरे आत्मा में ज्ञान मद नहीं है। ज्ञान को पाकर अभिमान करना विभाव परिणति है, अतः ज्ञानमद का त्याग करो। हे भव्य! तुम्हारी चिद्काय क्षायिक ज्ञान स्वभावी है। क्षायोपशमिक ज्ञान तुम्हारा विभाव है। उसका अहंकार मत करो। केवलज्ञान के सामने तुम्हारा यह क्षायोपशमिक ज्ञान कुछ अंश मात्र भी नहीं है। सतत विचार करो कि मेरा आत्मा स्वभाव से क्षायोशमिक ज्ञान से रहित है।

पुण्य का क्षय होते ही राजा भी रंक हो जाता है। हे भाई! सच्ची रत्नत्रय निधि को प्राप्त करो। शाश्वत निधि के स्वामी बनो। नश्वर सम्पत्ति की ओर दौड़ मत लगाओ। अपने भीतर छिपे खजाने को खोलो, उसको टटोलो। अहंकार कर्मबंध का कारण एवं आत्मानन्द का बाधक है। विभावों से दूर हटकर निज चिद्काय में रमण कर मान कषाय का अभाव करो।

निज चिद्काय के अनुभव के बिना शास्त्र ज्ञान और जिन प्रणीत क्रियाओं का पालन प्रायः जीव को मान उत्पन्न कर दुर्गति का कारण हो जाता है। इसलिये प्रथम ही अनुभव की कला को सीख लेना चाहिए, क्योंकि यह धर्म का मूल है।

'माया कषाय रहितोऽहम्'

माया ठगनी ने ठगा, यह सारा संसार।
जिसने माया को ठगा, उसकी जय-जयकार।।

मन में कुछ हो, वचन में कुछ हो और काया से कुछ और ही करना, यह मायाचार है। दूसरों को ठगना माया कषाय है। आज तक तुम यही सोच रहे हो कि मैं कितना कलाकार चतुर हूँ, मैंने अच्छे-अच्छे सेठ साहूकार, मित्र-व्यापारियों को ठग लिया है, मेरा जैसा बुद्धिमान कौन इस दुनिया में होगा। हे पथिक! यह तुम्हारी भूल है। सच तो यह है कि वास्तव में आज तक तुमने औरों को नहीं, अपितु अपने आपको ही ठगा है। तुम सिद्ध सम शुद्ध परमात्मा अनन्त शक्ति के पुंज होकर भी क्षणिक सुखाभास के लिये भिखारी बन छल-कपट करते हो। तुम निश्चय से अपनी बहिर्मुखता से और व्यवहार से 148 कर्म शत्रुओं से ठगाये गये संसार रूप जेल में पड़े हो। विचार करो कि तुम दूसरों को ठगने वाले स्वयं ठगाये गये हो।

हे आत्मन्! मायाचार आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। त्रैकालिक शुद्ध आत्मा इन विभाव भावों से रहित है। उस शुद्ध स्वभाव को व्यक्त करने का पुरुषार्थ करो। मन-वचन-काय की सरलता रखो।

सन्तों का उपदेश है कि हे जीवों! यदि तुम इस दुःखमय संसार-समुद्र से पार होना चाहते हो तो अन्य सर्व कलाओं की महिमा छोड़कर एक निज चिद्काय के अनुभव की कला की महिमा ग्रहण करो और उस कला को सीख लो और उसका ही नित्य अभ्यास करो। इस कला के अभ्यास के बिना संसार का अंत नहीं आयेगा। इस अनुभव की कला के समक्ष अन्य सर्वप्रकार की कलाएँ व्यर्थ हैं। हजारों शास्त्रों की पढ़ाई से भी एक क्षण के अनुभव का मूल्य अधिक है।

हे भाई! माया कषाय रहित अपनी चिद्काय का आश्रय कर माया कषाय का अभाव करो।

'लोभ कषाय रहितोऽहम्'

एक होकर दस होत, दस होकर सौ की इच्छा है।
सौ होकर भी सन्तोष नहीं, अब सहस्र होय तो अच्छा है।।
यों ही इच्छा करते-करते वह लाखों की हद पर पहुँचा है।
तो भी इच्छा पूरी नहीं होती, यह ऐसी डायन इच्छा है।।

हे भव्य! श्मशान में कितने ही मुर्दे ले जाओ उसका पेट नहीं भरता; अग्नि में कितना ही ईन्धन डालो वह तृप्त नहीं होती; सागर में कितनी भी नदियाँ मिल जायें वह तृप्त नहीं होता; पेट में कितना ही भोजन डालो, वह खाली का खाली रहता है, ठीक उसीप्रकार तुम्हारे साथ अनादि काल से तृष्णा नागिन लगी हुई अन्तर में विष का संचार कर रही है। एक की पूर्ति करो, दूसरी तैयार, दूसरी की पूर्ति करो, तीसरी तैयार। अनन्त आकाश का अन्त भले ही आ जाये पर इच्छा-तृष्णा का अन्त नहीं होता। परमार्थ से तुम्हारा आत्मा लोभ परिणति से रहित है।

हे भाई! सच्चा शाश्वत धन कौन सा है? तुम्हारे असंख्य प्रदेश एवं अनन्त गुण ही तुम्हारा शाश्वत धन है। तुम अनन्त सुख, शांति, संतोष के भंडार हो। अपनी अपनी चिद्कायारूपी भगवान आत्मा को ध्यानरूपी पुरुषार्थ के बल से प्राप्त करो। उसी की प्राप्ति का लोभ करो। शेष सब माया जाल है, उसका त्याग करो।

धैर्य पिता, क्षमा माता, शांति गृहिणी, सत्य पुत्र, दया बहिन, संयम भ्राता; इन उत्तम गुणों का लोभ करो। स्वार्थ के परिवार में तुम्हारा लोभ उचित नहीं। जो सदा साथ रहने वाला है, ऐसे आत्म वैभव की ओर दृष्टिपात करो। तुम स्वयं असली खजाने के स्वामी हो। तुम्हारा अनन्त वैभवरूप परमात्मा तुम्हें प्राप्त करने के लिये तरस रहा है। तुम कहाँ उलझे हो? लोभ छोड़ो और सन्तोष धारण करो।

हे भाई! अपनी चिद्काय का आश्रय कर लोभ कषाय का अभाव करो।

'पंचेन्द्रिय विषय व्यापार रहितोऽहम्'

कमला चलत न पैंड जाय, मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोएँ, पिता पुत्र दारा।।
ज्यों मेले में पंथी जन, मिलि नेह धरे फिरते।
त्यों तरुवर पर रैन बसेरा, पंछी आ करते।।
कोस कोई दो कोस कोइ उड़ फिर, थक-थक हारे।
जाये अकेला हंस संग में, कोई न पर मारे।।

मैं अनादि काल से बाह्य पदार्थों को ही अपने मानता रहा। स्पर्शन इन्द्रिय ने मुझे काम क्रीड़ा में लगा दिया। रसना इन्द्रिय ने मुझे स्वादिष्ट भोजन करने का लोलुपी बना दिया। घ्राण इन्द्रिय ने मुझे सुगन्धित वस्तुओं गुलाब, चम्पा, चमेली के फूल, इत्र, चन्दन, कपूर आदि के सूँघने में फँसाये रखा। नेत्र इन्द्रिय ने मुझे मनोहर सुन्दर रंगीन पदार्थों के देखने में लगाया और कर्ण इन्द्रिय ने रसीले-सुरीले गाने के शब्दों में उलझा दिया। मन नोइन्द्रिय है। इसको पाकर निरन्तर परद्रव्यों के सम्बन्ध में विचार किया। मैं इन पाँचों इन्द्रियों और मन के विषय व्यापार में रात-दिन इतना मस्त रहा कि अपने आत्मा के स्वरूप की ओर कभी लक्ष्य नहीं किया। इसप्रकार मैंने एक समय भी अपने उपयोग को अपनी दिव्य काया में नहीं लगाया।

हे प्रभु! तू अपनी दिव्य काया की प्रभुता को पहिचान। अन्तर में अनुभवगोचर तेरी दिव्य काया स्वभाव से स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, सिद्ध है; उसका आश्रय करने से स्वतंत्र, परिपूर्ण, वीतराग, सिद्ध पर्याय प्रगट होती है; किन्तु तुझे इसकी खबर नहीं है, इसलिये तुझे शांति नहीं मिल रही है।

इन्द्रियों और मन को वश में लेकर निज चिद्काय का सतत ध्यान करो। इससे ही शांति मिलने वाली नहीं है। पंचेन्द्रियों का विषय व्यापार बंद करने के लिये नेत्रों को बंद कर अपने उपयोग को क्रमशः अपनी पांचों इन्द्रियों पर लगाओ।

'स्पर्शनेन्द्रिय विषय व्यापार रहितोऽहम्'

हे भव्य जीव! स्पर्श इन्द्रिय का विषय ठंडा, गरम, कठोर, नरम, हल्का, भारी, रुक्ष, चिकना इनका अनुभव सुख नहीं, सुखाभास, दुःख है और इससे कर्मों का बंध होने से उसके उदय में भी दुःख है। आत्मा को पुद्गल का स्पर्श नहीं चाहिए। वह स्वयं ही शाश्वत उत्तम आनन्द का पुंज है। वह स्वयं अपना ही अनुभव करता हुआ शाश्वत उत्तम आनन्द को प्राप्त करता है।

स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत जीव अवश्य ही अन्य चारों इन्द्रियों के वशीभूत होता है। एक अब्रह्मसेवन का पाप करने वाला अवश्य ही अन्य चारों पाप करने लगता है। इसलिए स्पर्शनेन्द्रिय जन्य सुख से अपने आत्मा की रक्षा करना चाहिए और अभ्यन्तर में अपने चेतन शरीर (परमब्रह्म) को देखना चाहिए।

पर अंग का स्पर्श सुख नहीं है, वह तो वेदना का प्रतीकार है। जैसे खुजली का रोगी अपनी खाज मिटाने के लिए नख आदि से खुजाता है, फिर भी खुजली शान्त नहीं होती, लहुलुहान होता है और दुःखी होता है, उस खुजाने के दुःख को थोड़ी देर के लिए खाज बन्द हो जाने के कारण सुख मानता है, उसीप्रकार अब्रह्म सेवन करने वाला मोहवश दुःख को सुख मानता है।

यह संसार पुरुष के स्त्री के प्रति राग और स्त्री के पुरुष के प्रति राग के कारण ही चलता है। इस राग पर विजय प्राप्त करना अति कठिन है। इस राग पर जो विजय प्राप्त कर लेता है, वह संसार पर ही विजय प्राप्त कर लेता है और मुक्ति का स्वामी हो जाता है।

स्त्री को पुरुष के शरीर के स्पर्श एवं पुरुष को स्त्री के शरीर के स्पर्श से उसी प्रकार डरना चाहिए, जिस प्रकार हम सड़े मुर्दे के स्पर्श से डरते हैं।

स्पर्शनेन्द्रिय के विषय सेवन की बहुलता से जीव एकेन्द्रिय में जाता है। स्पर्शनेन्द्रिय प्रमाण अपने क्षेत्र का अनुभव करने वाला जीव निश्चय ही स्पर्शनेन्द्रिय रहित अर्थात् अशरीरी हो जाता है।

'रसनेन्द्रिय विषय व्यापार रहितोऽहम्'

हे जीव! रसना इन्द्रिय के लोलुपी बन तूने खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला व चरपरे रस का स्वाद लेते हुए उसे ही आत्मा का भोजन माना। स्वात्माश्रित चिदानन्द ही तेरी भूख मिटायेगा, इसका विचार तूने कभी नहीं किया।

भोजन ग्रहण करने से इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं। इन्द्रियों से जीव अपनी चिद्काय से च्युत होता है और रागादिरूप परिणमन कर नूतन कर्मों का बंध करता है।

हे भव्य! रसना इन्द्रिय जनित विषय सुख लेने के लिये तुमने विविध व्यंजन खाये, परन्तु तुम्हारे दुःखों का अभाव नहीं हुआ, अपितु दुःखों की वृद्धि ही हुई। तुम्हें अनन्त काल से अतीन्द्रिय सुख की चाह है, उस चाह की पूर्ति करने की तुमने कभी चिन्ता नहीं की। इस चाह की पूर्ति निज चिद्काय का अनुभव करने से ही होगी।

हे भव्य! आहार वर्गणा पुद्गल है। परमार्थ से अरूपी आत्मा को रूपी आहार वर्गणा का आहार नहीं होता। इसलिये आहार के प्रति उपेक्षा रखो। अल्प प्रासुक आहार लेकर आत्मा के अनुभवरूप रहने का पुरुषार्थ करो। सदा निज चित्कायामृत का पान करो। कहा भी है-

'यदि वह आत्मा दो घड़ी पुद्गल द्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप अर्थात् अपनी ही चिद्काय का अनुभव करे, उसमें लीन होकर परीषह के आने पर भी नहीं डिगे तो घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त चतुष्टय प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है।'

रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने के नेत्र बन्द कर अपने उपयोग को रसना इन्द्रिय पर लगायें। हे भव्य! निज चिद्काय को बारम्बार लक्ष्य में लेकर उस की रुचि उत्पन्न कर। अपनी चिद्काय का ध्यान करने से तुझको अतीन्द्रिय आनन्द रस का भोग होगा और जड़ रस का प्रेम छूट जायेगा।

'घ्राणेन्द्रिय विषय व्यापार रहितोऽहम्'

तेरा सांई तुझ में, ज्यों पहुपन में वास।
कस्तूरी को मिरग ज्यों, फिर-फिर ढूँढ़े घास।।

स्वात्मानन्द या आत्मविशुद्धि से बढ़कर कोई सुगन्ध नहीं तथा परिणामों की मलिनता से बढ़कर कोई दुर्गन्धि नहीं। हे आत्मन्! अपनी दिव्य काय की प्यारी-प्यारी, भीनी-भीनी सुगंध का रसास्वादन करो और पुद्गलों की गंध का त्याग करो।

गंध में सुख नहीं होता, इसलिये गंध को विषय करने वाले को भी सुख नहीं होता। निज दिव्य काय में सुख गुण होने से उसको विषय करने वाले को भी सुख होता है।

हे सद्बोध परांगमुख मूढ़ मानव! अपने शरीर में विद्यमान भगवान सिद्ध के गुणों की सुगन्ध का आश्रय ले। यदि ऐसा नहीं करेगा तो ध्यान रख, तुझे संसार की दुर्गंधमयी गलियों में भटकना पड़ेगा और तुम मुर्खों के शिरोमणि कहलाओगे। अधिक क्या कहें, अगली पर्याय में नपुंसक हो जाओगे।

आत्मा स्वभाव से सुगन्ध-दुर्गन्ध को विषय करने से रहित है। आत्मा निज चिद्काय की आराधना करने के स्वभाव वाला है।

घ्राण इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने के लिये नेत्र बन्द कर अपने उपयोग को घ्राण इन्द्रिय पर लगायें।

हे भाई! एक आत्मानुभव ही कला को सीख ले। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि दो घड़ी अपनी चैतन्य काया में लीन हो जावे तो सब कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्रकट करे, मोक्ष दशा हो। इसलिये आँखें बन्द करके ध्यान मुद्रा में बैठकर अपने उपयोग को नासाग्र पर लगाकर अभ्यन्तर में देखते रहो। अपनी चिद्काय के अंग-उपांगों को स्वसंवेदनरूप देखने से ही जीव को सुख का अनुभव होता है और वह अल्पकाल में अशरीरी होता है।

'चक्षुरिन्द्रिय विषय व्यापार रहितोऽहम्'

ज्ञानी ऐसा विचार करता है कि मैं चक्षु इन्द्रिय के विषय- काला, नीला, पीला, लाल, सफेद इनके व्यापार से रहित हूँ।

हे भाई! जिसे बाहर देख रहे हो वह जड़ है, उसमें तुम्हारा सुख नहीं है। निज चिद्काय में तुम्हारा सुख है। उसको अंतर्दृष्टि कर निहारो।

क्षुद्र मच्छर भी आँखों से देखते हैं। मनुष्य होकर भी आँखों से देखे तो मच्छर और मनुष्य में कोई अंतर नहीं रहता। मनुष्य होने की श्रेष्ठता स्वसंवेदन के पुरुषार्थ द्वारा आँखों से नहीं देखने में ही है।

संज्ञी जीव सबसे अधिक चक्षु इन्द्रिय का व्यापार करते हैं। इसलिये चक्षु इन्द्रियजय को इन्द्रियजय कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। रागी जीवो के नेत्र खुले रहते हैं और वीतरागी जीवो के बन्द।

हे भाई! एकत्व निश्चय को प्राप्त आत्मा ही सर्वत्र लोक में सुन्दर है। संसार के सुन्दरतम पदार्थ तुम स्वयं हो। जिसका कोई रूप नहीं है, ऐसे अमूर्तिक हो। अपने सुन्दर रूप को अन्दर टटोलो, खोजो, जरूर दर्शन पाओगे, पा गये तो तृप्त हो जाओगे।

जिसे बाहर देख रहे हो वह नश्वर है, जड़ है। जो देखने योग्य है, वह तुम्हारे अन्दर ही छुपा है। पाँव से मस्तक तक विराजमान तुम्हारी चिद्काय ही देखने योग्य है। यह बाहर के नेत्रों से दिखाई नहीं देती है। यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अनुभव में आती है, किन्तु ज्ञेयों में लुब्ध रहने के कारण प्रतीति में नहीं आ रही है।

नेत्र इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने के लिये नेत्र बन्द कर अपने उपयोग को नेत्र इन्द्रिय पर लगायें। हे भव्य! अपनी शाश्वत चैतन्य काया की ओर दृष्टि करो। अपने को अपने में अपने से निहारो। बाह्य पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर अपनी दिव्यकाय को देख।

'कर्णेन्द्रिय विषय व्यापार रहितोऽहम्'

जिसप्रकार अरिहंत-सिद्ध परमात्मा कर्णेन्द्रिय के व्यापार से रहित हैं, उसीप्रकार निश्चय से मैं कर्णेन्द्रिय के विषय व्यापार से रहित हूँ।

कर्णेन्द्रिय के विषय शब्द में सुख नहीं है। इसलिये उसको विषय करने वाले जीव को भी सुख नहीं है। निज चिद्काय में सुख है। इसलिये उसको विषय करने वाले जीव को भी सुख है।

हे भव्य! तुम बाहरी आवाज को ही अनन्त काल से सुनते आ रहे हो। सुनना है तो जिन वचनों को सुनो और फिर जिन वचनों को भी सुनना बंद कर आत्मा की सच्ची आवाज सुनो। अंतर में चिद्काय पुकार रही है। उसकी मधुरिम कर्मक्षयकारिणी आनन्ददायिनी आवाज को सुनो, एक बार ध्यान से सुनो। सदा अपने आत्म प्रदेशों का अनुभव करो।

इन्द्रिय व्यापार रूप कोलाहल से तुम्हें क्या प्रयोजन है? जो पुरुष इन्द्रिय व्यापार सहित है, वह आप्त नहीं हो सकता है। इन्द्रिय व्यापार ही संसार परिभ्रमण का मुख्य हेतु है। इन्द्रियाँ आत्मा की ग्राहक नहीं हैं। वे आत्मा से विमुख रहती हैं, जिससे आत्मा दुःखरूप परिणमन करता है। इसलिये पुरुषार्थ से आत्मिक आनन्द को प्राप्त करो।

हे भाई! परद्रव्यों का लक्ष्य कर-करके तू अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है। अब तू अपने अन्तर में अपने स्वरूप की ओर, अपनी चिद्काय की ओर दृष्टि कर। भीतर अपने ही प्रदेशों को, एक-एक अंग-उपांग को देख और उन्हीं में लीन होने का पुरुषार्थ कर।

कर्ण इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने के लये नेत्र बन्द कर अपने उपयोग को कर्ण इन्द्रिय पर लगायें। उपयोग को अपनी चिद्काय के सन्मुख करने से इन्द्रियों का व्यापार सहज ही रुक जाता है और राग का प्रसार रुक कर सहज आत्मस्वरूप की उत्पत्ति होती है।

'मन क्रिया रहितोऽहम्'

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल मन चोर।
मन के मते न चालिये, पलक-पलक मन ओर।।

जैसे सिद्ध परमात्मा मन से रहित हैं, मन की क्रिया से रहित हैं, उसीप्रकार मेरा आत्मा भी निश्चय से मन से रहित हैं, मन की क्रिया से रहित है।

हे आत्मन्! मन जड़ है, तुम चेतन हो; मन चंचल, तुम स्थिर शाश्वत; मन में आकुलता का वास है, तुम निराकुलता के स्वामी हो। मन में उठने वाला एक समय का एक विचार भी तुम्हारा नहीं, वह क्षणिक है; तो तुमसे अत्यन्त भिन्न मन तुम्हारा कैसे हो सकता है?

पंचेन्द्रियों के विषय नियत हैं, परन्तु मन का विषय अनियत है। मन से यह जीव कभी सुमेरु से सिद्ध लोक की ओर जाता है तो कभी सप्तम नरक से पाताल की सैर तक करता है। मन के अच्छे-बुरे विचारों से संसार बस गया है। हमारा मन माला में नहीं लगता है। इसका कारण क्या है? मन को प्रतिदिन नया कार्य चाहिए।

अनेक भिन्न-भिन्न मंत्रों का जाप कीजिये। मन को काम चाहिए, काम मिलते ही आप के आधीन हो जायेगा। णमोकार मंत्र को श्वासोच्छ्वास के साथ लयबद्ध पढ़िये। एक णमोकार मंत्र में तीन उच्छ्वास लीजिये। मन को चिद्काय से बाहर कहीं जाने का अवसर नहीं मिलेगा तो असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होगी। मन के आधीन क्यों बनते हो? वह तो जड़ है। मन के राजा बनो।

मन पर विजय प्राप्त करने के लिये नेत्र बन्द कर अपने उपयोग को अपने मन के स्थान पर लगायें।

प्राप्त शरीर में विराजमान अपनी चिद्काय का ध्यान करें और अनन्त आनन्द स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करें।

'वचन क्रिया रहितोऽहम्'

जैसे सिद्ध भगवान वचन क्रिया से रहित हैं, उसी प्रकार निश्चय से मेरा आत्मा वचन क्रिया से रहित है।

मौनस्वरूपोऽहम्। निश्चय से मैं मौनस्वरूप हूँ।

हे आत्मन्! आज तक विविध सांसारिक वार्तालाप में लगे रहे। दिन भर बोलते-बोलते भी शांति न मिली। स्वप्न में भी अन्तरंग वचनालाप करते रहे। जो निरंतर इस प्रकार अन्तरंग-बहिरंग वचनालाप में लगा रहता है, उसे अपने देह-देवालय में स्थित अपने परमात्मा का दर्शन नहीं होता है।

बाह्य और अंतरंग वचनालापों को छोड़ कर अंतर्दृष्टि की जाये तो परमानन्दमयी निज शुद्धात्मा का, परमात्मा का दर्शन होता है। समयसार कलश में कहा है-

'भैया! छह माह तक मौन रहकर निज चैतन्य प्रभु, चिद्काय के दर्शन का अभ्यास करो।'

अंतर्जल्प और बहिर्जल्प आत्मा के अशुद्ध प्राण हैं। इनका त्याग मौन है। मौन रहने से मन की चंचलता मिटती है। बोलने का आशय होने पर जीव नहीं बोलते हुए भी मन से बोलता रहता है। इसलिये बोलने का आशय छोड़ना चाहिए। निज चित्काय स्वसंवेदनगम्य है, उसी को परमार्थ सुख का कारणपना है। इसलिये सदा मौन रह कर और नेत्रों को बन्द कर निज चित्काय का अनुभव करना चाहिए।

उपदेश देने की बजाय उपदेश को आचरण में लेने का प्रयत्न करना चाहिए। इसलिये तीर्थंकर मुनि बनते समय मौन व्रत लेते हैं।

एक स्वार्थ की सिद्धि के लिये सदा मौन रहना चाहिए। किन्तु यदि कोई ऐसा परार्थ हो जो केवल अपने द्वारा ही साध्य हो तो स्वार्थ का घात नहीं करते हुए ही बोलना चाहिए।

'काय क्रिया रहितोऽहम्'

पोषत तो दुख करे अति, शोषत सुख उपजावे।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावे।।
राचन योग स्वरूप न याको, विरचन योग सही है।
यह तन पाय महा तप कीजै, यामें सार यही है।।

मेरी चिद्काय निष्क्रिय स्वभावी है; मन, वचन और काय के परिस्पन्दन से रहित है। हिलना-डुलना, बोलना और विचार करना मेरा स्वभाव नहीं है। मन, वचन तथा काय से आत्मा भिन्न है। इसलिये मन, वचन और काय से ममता का त्याग करो।

पुद्गल जीव की संसार यात्रा का निमित्त है। पुद्गल को विषय करने से ही जीव पुद्गल कर्म को आमंत्रित करता है। जीव स्वयं मोक्षमार्ग एवं मोक्ष का कारण है। एक बार भी जिसने निज जीवास्तिकाय का अनुभव किया, वह शीघ्र ही संसार समुद्र से पार हो जाता है। जीव स्वयं अपनी चिद्काय का ही आश्रय कर कर्मों से मुक्त होता है, सुखी होता है, बलवान होता है।

हे भव्य! तुम चैतन्य आत्मा हो। तुम्हारी चिद्काय परमानन्दमयी है। कायक्रिया को वश में करने के लिये अपने उपयोग को अपनी चिद्काय में, अपने ही परमात्मा में लगाने का अभ्यास करो।

सांसारिक कार्यों को मन से मत करो; यदि करना ही पड़े तो काय और वचन से करो। सांसारिक कार्यों को वृथा नहीं लम्बाओ। उनसे शीघ्र निवृत्त होकर आत्मध्यान के द्वारा आत्महित करो।

यह मनुष्य जीवन बहुत थोड़ी आयु वाला है, उसमें बुद्धि और बल हीन है। आगम समुद्र के समान है, अतः उसका पार कैसे पाया जा सकता है? द्वादशांग जिनवाणी का मूल एक आत्मानुभव है, जो अपूर्व कला है। एक आत्मानुभव करना ही सारभूत है और यही आत्मा के लिए हितकारी है, अन्य सब कोरी बाते हैं। इसलिए आत्मानुभव प्रकट करने के लिए अभ्यास करो।

'भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म रहितोऽहम्'

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय, जीव तारिसा होंति।
जरमरण जम्मम्मुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण।।

जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसे ही भव में पड़े हुए जीव द्रव्यस्वभाव से सिद्ध परमात्मा हैं और कर्म नाश कर पर्याय में सिद्ध होते हैं। वे भी स्वभाव से जन्म-जरा-मरण से रहित तथा आठ गुणों से अलंकृत हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में कुछ भी अन्तर नहीं है।

शुद्ध निश्चय नय से मैं द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित हूँ।

आत्मा व कर्म का अनादि काल से संयोग सम्बन्ध है। फिर भी जीव कर्म रूप नहीं होता व कर्म जीव रूप नहीं होता। दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य होने से दोनों में अत्यन्ताभाव है।

अनादि से जीव को भावकर्म है, तथापि वह कर्माश्रित होने से जीव का स्वभाव नहीं है। द्रव्यकर्म का क्षय होते ही भावकर्म का हमेशा के लिये अभाव हो जाता है। द्रव्यकर्म के अभाव होने पर जीव में भावकर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

अज्ञान अवस्था में यह जीव बहिर्मुख रहकर रागद्वेषमोह रूप भावकर्म के द्वारा द्रव्यकर्म को आमंत्रण देता है और द्रव्यकर्म के उदय में पुनः भावकर्म कर द्रव्यकर्म को बांधता है। इसप्रकार उसका संसार चक्र अनवरत रूप से चलता रहता है। अंतर्मुख होकर निज चिद्काय के अनुभव के द्वारा भावकर्म को रोक देना ही कर्मों के संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है।

हे चिद्काय प्रभु! दैवयोग से मैं स्वर्ग में होऊँ या नरक में होऊँ या इस मनुष्य लोक में होऊँ; विद्याधरों के स्थान में होऊँ या जिन मंदिर में होऊँ; मुझे आपके चरण-कमलों की भक्ति बनी रहे, जिससे कर्मों की उत्पत्ति नहीं होवे और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो।

'ख्याति लाभ पूजा परिणाम शून्योऽहम्'

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विधि देह दाह।
आतम अनातम के ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन छीन।।

हे भव्यात्मन्! जड़ और चेतन के भेदविज्ञान से रहित होकर ख्याति, पूजा, लाभ की भावना से किया गया विविध प्रकार का तप मात्र शरीर को क्षीण करता है। यह आत्मा की शांति से भिन्न आकुलता का हेतु है, संसार का कारण है।

हे भव्यात्मन्! तुम्हें आत्मकल्याण की इच्छा है तो ख्याति, लाभ, पूजा की इच्छा का त्याग करो। इनसे इसी प्रकार डरो जैसे नरक वास से डरते हो। ये स्वरूप ध्यान में बाधक हैं। अन्तरात्माओं को पुण्य के उदय से ये सहज ही मिलते हैं, लेकिन वे इनसे भयभीत रहते हैं। राग परिणति को छोड़कर अपने उपयोग को अपने आत्मस्वभाव में अर्थात् अपनी चिद्काया में लगाओ।

जन्म-मरण से रहित होने के लिये सदा अपनी चिद्काय का ध्यान करो। सदा ऐसा चिन्तन करो कि मेरा क्षेत्र देहप्रमाण पाँव से लेकर मस्तक तक है। मेरी चिद्काय ही मेरा धन है, संपत्ति है, प्रभु है, इसके बाहर मेरा धन नहीं है। मेरी वस्तु इतनी ही है। इस पर ही मेरा अधिकार है। बाहर तो सब कर्मों का खेल है, मायाजाल है। मैं अपने स्वरूप से च्युत होऊँगा तो महान हिंसा, चोरी, कुशील, परिग्रह; इन पाँचों पापों का दोष लगेगा। इसलिये मुझे सदा अपनी ही चिद्काया के ध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए।

हे आत्मन्। नेत्र बंद कर अंतर्दृष्टि करो और अपनी चिद्काया को अनुभव में लो। अपने उपयोग को अपने विस्तार पर ही लगाने का अभ्यास करो। अभ्यास सिद्ध हो जाने पर तुम पुण्य-पाप से रहित वीतराग सर्वज्ञ प्रभु स्वयमेव बन जाओगे।

मोक्षार्थी जीव अपनी चिद्काय का ध्यान कर शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

'निदान शल्य विभाव परिणाम शून्योऽहम्'

मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जाने।
जो कोई जन खाय धतूरा, सो सब कंचन माने।।
ज्यों–ज्यों भोग संजोग मनोहर, मनवांछित फल पावे।
तृष्णा नागिन त्यों–त्यों डंके, लहर जहर की आवे।।

देखे, सुने, अनुभव में आये हुए भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा करना निदान शल्य है। निश्चय से मेरा आत्मा निदान शल्यरूप विभाव परिणाम से शून्य है।

हे जीव! तूने दान, पूजा आदि अनुष्ठान किये, परन्तु उनके फल की चाह कर अनन्त सुख के साधन को क्षणिक सुख की चाह में लुटा दिया। इसप्रकार शुभ कार्यों को भी संसार का कारण बना लिया।

मुक्ति का पथिक विचार करता है कि ये भोग मुझे संसार में नाना असह्य दुःखों को देते हैं। इसलिये मैं पाँचों इन्द्रियों के विषय–भोगों से अपने आपको छुड़ा कर परम अनुपम आनन्द से भरपूर अपनी दिव्यकाय का अनुभव करता हूँ। जब मैं बाहर से अपने उपयोग को हटाकर भीतर की ओर करूँ, तभी अनन्त सुख से परिपूर्ण शुद्ध चिद्काय मुझे प्राप्त होती है। इसलिए बाहरी विषय–भोगों से अपने उपयोग को हटाकर मैं देह में विराजमान परम आनंदमय निज चिद्काय का ध्यान करने का प्रयत्न करता हूँ।

अनादि से जीव को भोगों का ही संस्कार है। इसलिये जरा सा प्रमाद होते ही उपयोग भोगों की ओर चला जाता है। प्रयत्न से ही उपयोग अपनी चिद्काय की ओर आता है।

बस! अपने उपयोग को अपनी चिद्काय के सन्मुख करना है। अन्य कुछ भी नहीं करना है। कहीं बाहर नहीं जाना है। अपने ही पुद्गल शरीर में अपनी अनुभवगोचर चिद्काय है, आभ्यंतर शरीर है, जीवास्तिकाय है, उसमें अंतर्दृष्टि से अपने उपयोग को लगाना है। प्रतिदिन यही अभ्यास करना है।

'माया शल्य रहितोऽहम्'

भोग बुरे भव रोग बढ़ावें, वैरी हैं जग जीके।
बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागे नीके ।।

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न परम आनन्दामृतरस रूपी निर्मल जल से अपने चित्त की शुद्धि न करता हुआ यह जीव बाहर में बगुले जैसे वेष को धारण कर लोगों को प्रसन्न करता है, यह माया शल्य है। हे भव्य! मायाचार करके तूने अपने को ही ठगा है। तूने पूर्व में अनादिकाल से मायारूप परिणामों को करते हुए अपना संसार को बढ़ाया है। तेरा चैतन्य प्रभु, त्रैकालिक सच्चिदानन्द चैतन्य मूर्ति इन विभावों से सर्वथा रहित है। पर्यायार्थिक नय से कर्मोदय के संयोग से उत्पन्न विभाव परिणाम जीव के कहलाते हैं।

हे भव्यात्मन! तू एक है, अखंड है, वीतराग है। तेरी चिद्काय की प्राप्ति ही तेरे जीवन का लक्ष्य है। बाह्य प्रपंचों से कोई लाभ नहीं है।

मोक्ष का पथिक प्रार्थना करता है कि मुझे एक मात्र मेरे भीतर विराजमान परमात्मा प्राप्त हो, निज चिद्काय ही मुझे प्राप्त हो।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।।
विलीनसंकल्पविकल्पजालंप्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति।।

निज प्रदेशों और गुणो की अपेक्षा मेरा आत्मस्वभाव विभाव भावों तथा चेतन-अचेतनादि परद्रव्यों से भिन्न है। आत्मस्वभाव दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि गुणों से परिपूर्ण है। अपनी चिद्काय को न किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसका नाश ही करने वाला है। यह आदि-अंत से रहित है और सर्व भेदों से रहित एकाकार रूप है।

नेत्र बंद कर अंतर्दृष्टि करने से वीतराग स्वाभाविक सहजानन्द मय शुद्ध निज जीवास्तिकाय प्रतिभासित होती है और जीव मुक्ति की ओर गमन करता है।

'सहज शुद्ध पारणामिकभाव स्वभावोऽहम्'

जो ध्याता है नित्य, सहज शुद्ध पारिणामिक भावा।
करता मुक्ति निवास, देते आचार्य यह दावा।।
मुक्ति पथिक अब जाग, ले उसी का सहारा,
मिट जाये अब शीघ्र, जन्म-मरण दुख भारा।।

मेरी निज चिद्काय मेरा कर्म निरपेक्ष शुद्ध पारिणामिक भाव है। मैं उस शुद्ध पारिणामिक भाव की नित्य वंदना करता हूँ तथा उसी में तल्लीन रहने का पुरुषार्थ करता हूँ।

जीव द्रव्य के पाँच भाव हैं- औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। कर्म के उपशम से औपशमिक, क्षय से क्षायिक, क्षयोपशम से क्षायोपशमिक और उदय से औदयिक भाव होते हैं। कर्मों की सम्पूर्ण उपाधि से रहित पारिणमिक भाव होता है। क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भाव मोक्षमार्ग और मोक्ष को करने वाले हैं, औदयिक भाव बंध करने वाला है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है, आश्रयभूत है।

जिस भाव में इन्द्रिय, मन, कर्म आदि की अपेक्षा नहीं है, वह शुद्ध पारिणामिक भाव है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से मुक्त होने से मेरा पारिणामिक भाव सदा शुद्ध है, मैं उस भाव स्वरूप हूँ।

हे भव्य! शुद्ध पारिणामिक भाव की शरण ग्रहण करो, उसी की आराधना, उसी की श्रद्धा, उसी की पूजा, उसी की वन्दना करो।

अनन्त स्वाधीन सुख का भंडार मेरे स्वभाव में, मेरी ही चैतन्य काया में भरा है, किन्तु मैंने इसको नजरों से ओझल रखा है। यह मैंने मेरा ही अनादर किया है। इस कारण भव भ्रमण रूप सजा मैं अनादि से भोग रहा हूँ। अब मैंने अपनी दिव्यकाय का ही प्रति समय स्मरण, संवेदन कर भव भ्रमण नहीं करना है।

'अचल निर्भरानन्द स्वरूपोऽहम्'

जब निज आतम अनुभव आवे।
रस नीरस हो जाय तत्क्षण, अक्ष विषय नहीं भावे।।
गोष्ठी कथा कुतूहल सब विघटै, पुद्गल प्रीति नशावे।
राग-द्वेष युग चपल पक्ष युत, मन पंछी मर जावे।
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै।।

मैं अचल पूर्ण आनन्द स्वरूप हूँ। पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द अव्यक्तरूप से सदा मुझ में विद्यमान है। मैं उसका स्वामी हूँ, सदा उससे अभिन्न हूँ। मेरी दिव्यकाय अचल आनन्द से पूर्ण कलशवत लबालब भरी हुई है।

समस्त इन्द्रियाधीन विषय सुख से भिन्न मेरा स्वतंत्र अतीन्द्रिय आत्मानन्द है। मैंने मोह में अटकाने वाले स्वार्थपूर्ण राग को ही आनन्द मानकर अपनी आनन्दमयी चिद्काय को नहीं पहिचाना। इन्द्रियो की विषय पूर्ति को ही आनन्द मानकर तृप्त रहा। स्वयं का निर्दोष आनन्द स्वयं में अभिन्न छिपा है, उसे प्राप्त करने का कभी पुरुषार्थ नहीं किया। अब मैं जागृत हुआ हूँ। अपने अतीन्द्रिय अचल पूर्णानन्द को अंतर में प्राप्त कर उसी में डुबकी लगाने का प्रयास करता हूँ। मेरी चिद्काय का अतीन्द्रिय आनन्द शाश्वत है, स्वतंत्र है, परद्रव्य की पराधीनता से रहित है, इन्द्रियातीत है। तीनों लोक को अशांति करने वाला भीषण तूफान भी मेरे आत्मानन्द को चलायमान नहीं कर सकता।

भगवान कहते हैं कि प्राप्त देह में ही तेरा निवास है, ऐसा तू निश्चय कर। बहिर्मुखता छोड़कर एक निज चिद्काय का ही अनुभव कर। तेरी चिद्काय शाश्वत है। इसी का अवलम्बन लेना मोक्षमार्ग है। अंतर्मुख होकर अपने विस्तार पर दृष्टि पसार। प्राप्त देहप्रमाण स्वसंवेदनगोचर तेरा विस्तार है। तेरी व्यंजनपर्याय को द्रव्यपना है। अंतर्दृष्टि कर सदा अपनी व्यंजनपर्याय को लक्ष्य में ले। इसी उपाय से तू निर्विकल्प होगा, सर्व कर्म नष्ट होंगे और परमात्मा बनेगा।

'चित्कला स्वरूपोऽहम्'

आनन्द कन्द दु:ख भंजन एक न्यारा।
है अचल निर्भर सुखामृत का पिटारा।।
पीओ पथिक तुम इसे भर अनुभव प्याला।
मिलता यहाँ सुख सदा अनुपम विशाला।।

निज चिद्काय में तल्लीनता चित्कला कहलाती है। आत्मानुभूति का प्यासा जीव आत्मानुभव रूप चित्कला को सीख कर उसमें निपुणता प्राप्त करता है।

हे मुक्ति के राही! तेरा शुद्ध चिद्काय स्पर्श, रस, गंध और रूप से रहित है, मन और इन्द्रियों के अगोचर है, स्वानुभवगोचर है, केवल चेतना गुणवाली है। उस चेतना गुण की शुद्ध परिणति तेरा स्वरूप है।

एक निपुण चित्रकार जिस समय सुन्दर चित्र बनाने में मग्न हो जाता है, उस समय उसकी दशा बाह्य विषयों से भिन्न हो जाती है। उसे अन्य सब विषय फीके नजर आते हैं। उसीप्रकार निज चिद्काय रूपी उद्यान में केलि करने वाला निपुण कलाकार उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि उसे बाह्य सब वस्तुएँ निस्सार नजर आती हैं।

हे आत्मन्! इस चित्कला की प्राप्ति अपूर्व है। समस्त झंझटों से रहित होकर एकांत स्थान में बैठकर अपनी चिद्काया में लीन हो। निज शुद्ध जीवास्तिकाय का भली प्रकार ध्यान कर। समस्त सिद्धांत का सार यही है कि बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुख होकर निरंतर निज चिद्काय के ध्यान का अभ्यास करो। तुम्हारी चिद्काय ही तुम्हारा बंधु है, मित्र है, परमात्मा है। अन्तर्मुख होने का नाम ही ध्यान है। नेत्र बंद कर पांव के नख से मस्तक तक क्रमशः अपनी दृष्टि को पसारो। अपने चिद्काय रूपी सरोवर में ही अपने चित्त का सदा विहार कराओ। इससे तुम्हें संसार के अनन्त दुःखों से मुक्ति मिलेगी। जो समस्त संकल्प-विकल्प को छोड़कर अंतर में अपनी चिद्काय का अनुभव करता है, वही अनंत सुख को प्राप्त करता है।

'चिन्मुद्रांकित निर्विभाग स्वरूपोऽहम्'

चैतन्य शुद्ध चिन्मुद्रा यह अनूठी।
पाता वही जगत में जिसको न कुबुद्धि।।
है निर्विभाग यह एक अखंड ध्याता।
पाओ पथिक अब इसे जग छोड़ नाता।।

वह परम उत्कृष्ट जगत प्रकाशक ज्योति हमें प्राप्त होवे, जो कि सदाकाल चैतन्य की उठती तरंगों से परिपूर्ण है। जिस प्रकार नमक की एक डली एक क्षार रस की लीला का ही अवलम्बन करती है, उसी प्रकार यह परम प्रकाश, तेज परद्रव्यों से भिन्न निज शुद्धात्मा का अवलम्बन करता है। यह तेज अखंडित है। किसी से भी खंडित नहीं होता।

शुद्ध चैतन्य स्वरूप चिन्मुद्रा में शोभायमान है और जिसका किसी प्रकार विभाग न हो सके ऐसा शुद्धात्मा प्रभु मैं हूँ।

मेरा आत्मा निश्चय से अमूर्त होने से वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित है, पुद्गल से रचित संस्थान तथा संहनन से रहित है। योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान में भी मेरी मुद्रा नहीं है। ये सब पुद्गल द्रव्य के संयोग से होने वाले परिणाम है।

देहदेवालय में विराजमान शुद्धात्मा की ही मैं नित्य आराधना करता हूँ। हे परमात्मा! मैं तुम्हारी निरन्तर वन्दना-अर्चना करता हूँ। मेरा चिन्मुद्रांकित आत्मा अखंडित है। ऐसे अपने शाश्वत स्वरूप में निवास करता हूँ।

हे आत्मन्! निश्चय से जीवकाय को कोई खंडित नहीं कर सकता, अग्नि में जला नहीं सकता, पानी में डुबा नहीं सकता; किन्तु कर्म के सम्बन्ध से मूर्तिकपना होने से अग्नि, पानी, शस्त्र आदि से पुद्गलकाय का घात होने पर जीवकाय का भी घात होता है।

'चिन्मात्र मूर्ति स्वरूपोऽहम्'

द्रव्यकर्म अरु भाव कर्म, अरु नोकर्मों से भिन्ना।
शुद्ध बुद्ध चिन्मात्र ये मूरत, लिपटी कर्मरज लिन्ना।।
भेद विज्ञान की टाँची ले, कर्म मल को निकालो।
शुद्ध चिदानन्द चैतन्य मूरत, के तुम दर्शन पा लो।।

हे शुद्ध चिदात्मराजा! मैं निरन्तर तेरी आराधना करता हूँ।

निज चिद्काय के आश्रय से मेरी अनुभव रूप परिणति की परम विशुद्धि हो, कर्म कलंक से रहित उत्कृष्ट विशुद्धि हो।

मैं भेदविज्ञान रूपी छैनी से भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म को त्यागता हुआ शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति, जीवास्तिकाय का दर्शन करता हूँ, उसी में नित्य विहार करता हूँ। उसी में मैं नित्य केली करता हूँ। बाह्य पुद्गल मुर्तियों में मेरा अनुराग समाप्त हो गया है। मेरा शुद्ध चैतन्य आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित एक टंकोत्कीर्ण चिन्मात्र मूर्ति स्वरूप है। मेरी चिन्मात्र मूर्ति मेरे ही द्वारा स्वसंवेदनगम्य है। मेरी चिन्मात्र मूर्ति निश्चय से लोक प्रमाण होने पर भी व्यवहार से प्राप्त देह प्रमाण है। वह न अणु प्रमाण है और न सर्व व्यापी है। केवलज्ञान द्वारा सर्व को प्रकाशित करने से आत्मा को लोकव्यापी कहा जाता है।

जिसप्रकार एक मूर्तिकार पाषाण में मूर्ति का दर्शन कर उसमें से मूर्ति निकालता है; वह हथौड़ा, टाँकी आदि लेकर पाषाण के अनुपयोगी अंश को निकालता चला जाता है। इसीप्रकार वीतराग चैतन्य मूर्ति का जिसने एक बार दर्शन कर लिया है, वह बार-बार अपनी चिन्मात्र मूर्ति चिद्काय, जो भगवान है, उसका दर्शन करता है और कर्म निर्जरा करता जाता है।

पर परिणति का कारण जो मोहनीय कर्म है, उसके उदय रूप विपाक से मेरी परिणति निरन्तर मलिन हो रही है। मेरी परिणति बाहर परद्रव्यों में जाती है, इसलिये मलिन हो जाती है। परन्तु मैं द्रव्यदृष्टि से सदा कर्म कलंक से रहित शुद्ध चैतन्य मात्र मूर्ति हूँ।

'चैतन्य रत्नाकर स्वरूपोऽहम्'

रत्नाकर चैतन्य रतनत्रय निधि का है धनी।
लगाओ इसमें तो डुबकी, मिल जाये निधि तेरी।।
पथिक सुन लो अब तो, रतन इसमें अनंत अनंता।
लुटेरे लूटें ना बतावें, बतावें वीर भगवन्ता।।

मोह के उदय से आच्छादित अनादिकालीन भ्रम बुद्धि से आज तक मैंने सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना आदि पत्थर के टुकड़ों को ही रत्न माना, उनको प्राप्त करने के लिये मैं रात-दिन परिश्रम करता रहा। उनसे पुद्गल शरीर को सजाया। ये पत्थर के टुकड़े सुख गुण से सर्वथा रहित होने से मुझे सुख प्रदान नहीं कर सकते हैं। सातावेदनीय का उदय होने पर इन्द्रियों के माध्यम से ये मुझे इन्द्रिय सुख प्रदान करते हैं, जो सुखाभास है, दुःख है। अंतर्दृष्टि कर निज चिद्काय का अपूर्व सुख प्राप्त करने से अब मुझे अचल विश्वास हो गया है कि ये पत्थर के टुकड़े मेरी शाश्वत निधि को ठगने वाले हैं। इसलिये इनमें मेरे राग का अभाव हो गया है। मैं अब अपने आनन्द समुद्र चिद्काय में रहने वाले गुण रूपी शाश्वत रत्नों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता हूँ और बाह्य क्षणिक पुद्गल पिण्डों का त्याग करता हूँ।

हे भव्य! चैतन्य रत्नाकर निज चिद्काय में डुबकी लगाओ। देखो! तुम्हारे गुणों का खजाना तुम्हारे पास है, तुम स्वयं ही तद्रूप हो। तुम त्रिलोकाधिपति, त्रिलोकेश्वर हो।

हम अपने भगवान को, अपने स्वरूप को, अपने घर को छोड़कर बाहर रहें, पर घर में रहे, यह अपराध है बड़े शर्म की बात है, कुशील है।

प्रभु! तेरी चिद्काया में, तेरे घर में, तेरी चीज में क्या कमी है जो तू बाहर में परद्रव्यों में, पर घर में ही माथा मार रहा है। आनन्दमयी निज चिद्काय है जो अपना घर है उसको छोड़कर बाहर फिरना तो अज्ञान है, मोह है, पागलपन है।

'चैतन्यामरद्रुम स्वरूपोऽहम्'

रत्नत्रय धरम का मैं कल्पवृक्ष।
हूँ अमर शुद्ध चैतन्य न कोई अक्ष।।
जो इष्ट वस्तु सबको अनुपम प्रदाता।
छाया उसी की गहता सब छोड़ नाता।।

मैं रत्नत्रय धर्ममयी शुद्ध चैतन्य अमर कल्पवृक्ष की छाया को प्राप्त होता हूँ, जो अविनाशी है, सतत भव्य आत्माओं की रक्षक है। बाह्य सर्व कल्पवृक्षों से जड़ पदार्थ माँगने का त्याग करता हूँ; क्योंकि मैं स्वयं अमर चैतन्य कल्पवृक्ष हूँ। फिर जड़ पदार्थ माँगना क्यों? जड़ पदार्थों में सुख नाम का गुण, धर्म नहीं है। इसलिये वे मुझे सुख प्रदान नहीं कर सकते हैं। उनका आश्रय करने पर जो विषय सुख अनुभव में आता है, वह भी मेरी चिदकाय के द्वारा ही उत्पन्न किया जाता है। चिद्काय के अभाव में विषयसुख रूप परिणति उत्पन्न नहीं हो सकती है। जो महिमा है वह सब चिद्काय की ही है।

भोगभूमि के समय कल्पवृक्ष होते हैं, जो भोगभूमि के जीवो को अपने-अपने मन की कल्पित वस्तुओं को देते हैं। वे कल्पवृक्ष पुण्यात्मा जीवो को अधिक से अधिक तीन पल्य तक मन की कल्पित वस्तुओं को देते हैं। ये कल्पवृक्ष जड़ हैं, पृथ्वीकाय हैं। परन्तु हे भव्य! तुम स्वयं शुद्ध चैतन्य अमर धर्म रूप कल्पवृक्ष हो। इस अमर कल्पवृक्ष को पुण्य की अपेक्षा नहीं है। यह कल्पवृक्ष अंतर्दृष्टि करने पर बिना मांगे ही तुम्हें अनुपम सुख देता है।

मैं मुक्ति का राही समस्त कर्म प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न होने वाले शुद्ध अभेद रत्नत्रय धर्मरूप अमर कल्पवृक्ष की प्राप्ति का पुरुषार्थ करता हूँ, क्योंकि मैं निश्चय से तद्रूप हूँ। मेरा चिदानन्द धर्मरूप अमर कल्पवृक्ष बिना माँगे ही मुझे सदा मोक्षसुख प्रदान करने वाला है।

यह मनुष्य जन्म ही सर्वश्रेष्ठ जन्म है। इस मनुष्य जन्म में ही ध्यान कर अधिक से अधिक कर्मों को नष्ट कर देना चाहिए।

'चैतन्यामृताहार स्वरूपोऽहम्'

ज्ञानामृत का प्याला पीता, मेरा आतमा घड़ी-घड़ी।
है आहार ही सतत मेरा, छोडूँ इस को न एक घड़ी।।
पथिक! न भटकूँ इधर-उधर अब, सत्य ज्ञान की लगी लड़ी।
मुक्ति वधु से नाता जोडूँ, मोक्ष महल से जुड़ी कड़ी।।

निश्चय से मैं शुद्ध चैतन्य अमृत आहार स्वरूप हूँ। पर द्रव्यों के संयोग से रहित मेरा चित्कायामृत ही मेरा आहार है। मेरा आत्मा चित्कायामृत के सेवन से ही तृप्त होता है। उसे पुद्गल आहार से कोई प्रयोजन नहीं। मैं सतत चित्कायामृत का पान करते हुए बाह्य छह प्रकार के आहार को छोड़ता हूँ। बाह्य आहार के छह भेद हैं- नोकर्म आहार, कर्म आहार, लेप आहार, कवला आहार, ओज आहार और मानसिक आहार।

शुद्ध चैतन्य आत्मा का इनमें से कोई आहार नहीं। अतः वह निराहार है। शुद्ध आत्मा कभी आहार नहीं करता, यदि करता तो सिद्ध भगवान को भी आहार होना चाहिए, जो कि असम्भव है। जैसे हल्दी और चूने के संयोग से एक नई अवस्था उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही जीव और पुद्गल के संयोग से एक तीसरी मनुष्यादि अवस्था होती है, तब जीव पुद्गल आहार का ग्रहण करता है। अंतर्दृष्टि से निज चिद्काय की आराधना करने पर जीव को पुद्गल का संयोग मिटता है और फिर पुद्गल का आहार नहीं होता है।

आहार करना क्षुधा निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति का यथार्थ उपाय नहीं है। निज जीवकाय का ध्यान ही क्षुधा निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति का यथार्थ एवं स्थायी उपाय है, क्योंकि निज जीवकाय के ध्यान से क्षुधा उत्पन्न करने वाला असातावेदनीय कर्म निर्जरित होता है। योगी निज जीवकाय के ध्यानरूपी अन्न-जल से सन्तुष्ट रहते हैं। वे अन्न-जल से शरीर को पुष्ट नहीं करते हैं। जो शरीर को पुष्ट करने में आसक्त हो जाते हैं, वे ध्यान का साधन नहीं कर सकते हैं।

'चैतन्य रसरसायन स्वरूपोऽहम्'

रस के रसायन बना, तुम खूब खाओ।
होगी न तृप्त, यह जिह्वा सच तो मानो।।
चैतन्य शांत सुधा रसायन को जो चाखो।
आनन्दकन्द सुखानन्द सुमोक्ष पाओ।।

खट्टा-मीठा आदि पंच रसों से बने रसायन जड़ हैं और पुद्गल इन्द्रियों को पुष्ट कर जीव को विषय-कषायों में फँसाते हैं, किन्तु मेरी चिद्काय स्वसंवेदन से सेवन करने पर अपने को वीतराग करती है, पुष्ट करती है। रसरसायन सेवन करने पर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु मेरी चिद्काय सेवन करने पर नष्ट नहीं होती है।

मेरी चिद्काय ही वास्तविक रस रसायन है। अतः मैं मुक्ति का पथिक पुद्गल इन्द्रियों के पोषक जड़ रसो को त्याग करता हूँ और चैतन्य रस से पूर्ण आनन्द रसायन, निज चिद्काय, का सेवन करता हूँ। मेरी चिद्काय चैतन्य रस रूप है।

प्रभु! तू स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, सिद्ध है; किन्तु तुझे अपने स्वरूप की खबर नहीं है। इसलिये तुझे शान्ति नहीं मिल रही है। भाई! वास्तव में तू अपने घर को भूला हुआ है, मार्ग को भूल गया है, दूसरे के घर को तू अपना घर मान बैठा है, किन्तु पर घर में कभी भी तुझे शांति मिलने वाली नहीं है और कभी भी अशांति का अन्त होने वाला नहीं है। तेरा घर तेरी ही चैतन्य काया है, जो प्राप्त पुद्गल देह प्रमाण है, उसी में अपने उपयोग को जोड़ने का अभ्यास कर, जिससे तुझे शांति मिलने वाली है।

अनादिकाल से आत्मा ने पर का कुछ नहीं किया, अपने को भूलकर मात्र पर की ही चिंता की है। अब तो अपने स्वरूप की, अपने चिद्काय की आराधना कर और पर की चिंता को छोड़। अन्तरात्मा बनने से पर की चिंता छूट जायेगी और अपनी दिव्यकाय में शांति का अनुभव होगा।

'चैतन्य चिन्ह स्वरूपोऽहम्'

चैतन्य चिन्हयुत आतमा मम, शुद्ध बुद्ध अखंड है।
नय प्रमाण निक्षेप का जहाँ, कोइ भेद न खंड है।।
अमर ज्योति चिन्मयी मम, चिद् चिदानन्द भासती।
वो प्रकट हो मेरे हृदय में, ज्ञान केवल शाशती।।

जीव रागी है, द्वेषी है, कर्मों का कर्ता है, कर्मों का भोक्ता है, चार प्राणों से जीता है, मूर्तिक है, अनेक है आदि रूप व्यवहार नय का कथन है और जीव न रागी है, न द्वेषी है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न चार प्राणों से जीता है, न मूर्तिक है, न अनेक है; ऐसा निश्चय नय का कथन है।

इस प्रकार चैतन्य रूप जीव के सम्बन्ध में दो नयों के दो पक्ष हैं, लेकिन मैं मुक्ति का पथिक इन दो नयों के विकल्पों को नहीं करता हूँ, अपितु अपनी चिद्काय का निर्विकल्प रूप से अनुभव करता हूँ।

जीव कर्मो से बँधा है, यह पर्यायार्थिक नय का पक्ष है और वह कर्मों से बँधा नहीं है, यह द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है। पक्षपात रहित भेदज्ञानी को शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा स्वसंवेदन से अनुभव में आता है।

पर्यायार्थिक नय कहता है जीव मोही है और द्रव्यार्थिक नय कहता है कि जीव मोही नहीं है। पक्षपात रहित तत्त्ववेता के लिये चित्स्वरूप जीव चैतन्यमय ही है अर्थात् उसे चैतन्यमय जीव जैसा है, वैसा ही सदा अनुभवगोचर होता है।

मैं चैतन्य चिन्ह स्वरूप हूँ। चैतन्य से विरुद्ध भाव मेरे चिन्ह नहीं हैं।

परम शांति का अनुभव करने के लिए निज जीवकाय की अचिन्त्य सामर्थ्य पर विश्वास कर उपयोग को निज जीवास्तिकाय में लीन करना चाहिए। जैसे परद्रव्य विश्वसनीय नहीं हैं, उसी प्रकार स्वद्रव्य के सम्बन्ध में उठने वाले विकल्प भी विश्वसनीय नहीं हैं।

'चैतन्य कल्याणवृक्ष स्वरूपोऽहम्'

कर्मवृक्ष की छाया में तू पथिक, अब तक भटक रहा।
जितना उसके पास गया तू, उतना ही उससे अटक रहा।।
तेरा चैतन्य कल्याण वृक्ष है, इस की छाया को गह ले।
अनन्त सुख की छाया पाकर, मुक्ति महल में वास करे।।

जिसका प्रीति-अप्रीति से रहित शाश्वत स्थान है, जो सर्व प्रकार के आत्मिक सुख से निर्मित अमूर्तिक है, जो चैतन्य रूप अमृत फलों से पूर्ण लदा है, ऐसा चैतन्य कल्याण वृक्ष मेरा स्वरूप है। मेरी स्वानुभवगोचर चिद्काय ही शाश्वत चैतन्य कल्याणवृक्ष है। मैंने आज तक ऐसे चैतन्य कल्याणवृक्ष की शरण नहीं ली। आज मैं चैतन्य कल्याण वृक्ष की गहन छाया का आश्रय लेता हूँ और बाह्य पदार्थों के आश्रयरूप कर्मवृक्ष की छाया का त्याग करता हूँ। कर्मवृक्ष की छाया अनन्त संसार के दुःखों का हेतु है, मुक्ति महल की अर्गला है, किन्तु मेरे चैतन्य वृक्ष, चिद्काय की छाया अनन्त सुख-शांति को देने वाली है तथा चिरकाल भ्रमण की थकान को दूर करने वाली है। हे भव्य! ऐसी अपनी चिद्काय में ही विश्राम करो।

हे आत्मन्! इस जीव ने अनादिकाल से कर्मवृक्ष की छाया को पकड़ कर रखा। उन्हीं कर्मों के अच्छे-बुरे विपाक पाकर हर्ष-विषाद करता रहा। कर्मवृक्ष सामान्य से एक और द्रव्य कर्म, नोकर्म, भावकर्म रूप से तीन प्रकार के हैं तथा मूल कर्मों की अपेक्षा आठ प्रकार के व उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा 148 प्रकार के हैं। इन कर्मों के बीच भी आत्मा अपने शाश्वत गुणों की अपेक्षा अनन्त शक्तिशाली है। संसार के दुःखों से छूटने के लिए उसी की चाह करो, उसी की प्राप्ति करो, उसी का विचार करो।

मैं अब पुद्गलद्रव्य के पीछे एक समय भी नष्ट नहीं करता हुआ चैतन्य कल्याण तरु की, निज जीवास्तिकाय की गहरी छाया में अनन्त काल के लिये विश्राम लेता हूँ।

'चैतन्यपुंज स्वरूपोऽहम्'

चैतन्य पुंज सु अखंड, ये जीव म्हारा।
अविभागी अंश, चित्ज्योतिर्मय पिटारा।।
रहता प्रकाशित, मणि सम ज्ञान धारा।
लेता जो आश्रय, उसे भव सिंधु तारा।।

मैं मुक्ति का पथिक अब चैतन्य पुंज शुद्धात्मा से भिन्न सकल विभाव भावों को छोड़कर चैतन्य शक्ति मात्र निज दिव्यकाय, आत्मा का स्पष्टतया अवगाहन करता हूँ; विश्व के ऊपर स्फुरायमान होते हुए परम उत्कृष्ट आत्मा का अपनी आत्मा में, चिद्काय में अनुभव करने का परम पुरूषार्थ करता हूँ।

यह जीवद्रव्य सर्वस्व सारभूत अनुभूति स्वभावी है। यह तीन लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। इसके प्रत्येक प्रदेश में चैतन्य शक्ति अनवरत रूप से प्रवाहित है। मैं शुद्धात्मा चैतन्य पुंज स्वरूप हूँ। मैं सतत चैतन्य पुंज निज जीवास्तिकाय का आश्रय करता हूँ। अपने उपयोग को अपनी चिद्काया में लगाकर जन्म, मरण, कुल योनि आदि विकल्पों को नहीं करता हूँ; निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर निर्दोष चिन्मात्र, चैतन्य पुंज भगवान आत्मा को प्राप्त करता हूँ।

भगवान की वाणी में यही आया है कि तुम स्वयं शक्ति रूप से भगवान हो। भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु तुम्हारी ही देह में मौजूद है। तुम बाहर कहाँ अपने भगवान को खोज रहे हो? तुम्हारा भगवान तुम्हारी ही आभ्यंतर काया हैं, जो अन्तर्दृष्टि से देखने पर स्वसंवेदन रूप से अनुभव में आती है।

हे आत्मन्! अनन्त सुख की बाधक राग-द्वेष प्रणाली का त्याग करो। अपने उपयोग को अपनी चिद्काय के बाहर मत जाने दो। बहिर्मुखता ही दुख का कारण है। अब मैं परमार्थभूत परम ज्योतिस्वरूप निज जीवास्तिकाय का आश्रय लेता हूँ, नेत्र बन्द कर ध्यान मुद्रा में बैठकर उसी को निहारता हूँ, उसी में तल्लीन होता हूँ।

'ज्ञानज्योति स्वरूपोऽहम्'

मैं चैतन्य ज्ञानज्योतिमय, केवलज्ञान प्रकटाऊँगा।
लोकालोक चराचर देखूँ, परम पुरुषार्थ जगाऊँगा।।
तीन लोक का शिरोमणि बन, ऐसा ध्यान लगाऊँगा।
घाति-अघाति सब क्षय करके, मुक्तिपुरी को जाऊँगा।।

हे भव्य! तुम्हारा आत्मा केवलज्ञान ज्योति स्वभाव वाला है, पर कर्मों से आच्छादित है। मोहोदय से मति आदि क्षायोपशमिक ज्ञानों से क्रम-क्रम से परद्रव्यों को प्रकाशित करना मेरा स्वभाव नहीं है।

हे भव्य! आत्मा को ज्ञानावरणादि कर्मों से मुक्त करने के लिए परम पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थी जीव आँखें बन्द करके अपने उपयोग को अपनी चिद्काय में लगाकर कर्मों के बन्धन को काटता है और ज्ञानज्योति को, कार्य परमात्मा को प्रगट करता है। अब मैं सम्यग्ज्ञानी हुआ प्रत्यक्ष ज्ञानज्योति केवलज्ञान को अपने आत्मा में साक्षात् प्रकट करने का पुरुषार्थ करता हूँ। समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली केवलज्ञान ज्योति मेरा स्वरूप है। निश्चय से मैं तद्रूप हूँ।

यह जीव मोहरूपी मदिरा को पीने से भ्रांति रस ममकार-अहंकार के वेग से पुण्य-पाप रूप कर्मों के भेद रूपी उन्माद से मनुष्य-तिर्यंच गति आदि योनियों में नाचता है। ध्यान के बल से, उपयोग को निज दिव्यकाय में जोड़ने से प्रकृति प्रदेशादि चार रूप समस्त कर्मों को जड़मूल से उखाड़ कर अत्यन्त सामर्थ्यशाली अखंड केवलज्ञान ज्योति प्रगट होती है। वह ज्ञानज्योति ही मेरा स्वरूप है। मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है।

हे भव्य! ऐसा चिन्तवन करो-

'मतिज्ञान रहित स्वरूपोऽहम्, श्रुतज्ञान रहित स्वरूपोऽहम्, अवधिज्ञान रहित स्वरूपोऽहम्, मनपर्यय:ज्ञान रहित स्वरूपोऽहम्। सकलविमल केवलज्ञानस्वरूपोऽहम्।

'ज्ञानामृत प्रवाह स्वरूपोऽहम्'

पर द्रव्यन की प्रीति से, बढ़ता सदा प्रमाद।
इनको त्यागो पथिक तुम, बहता ज्ञान प्रवाह।।

जो पुरुष निश्चय से अशुद्धता को करने वाले सब परद्रव्यों को छोड़कर अपने निज द्रव्य में लीन होता है, वह नियम से अपराधों से रहित होकर बंध के नाश को प्राप्त होने से नित्य उदय रूप अपने स्वरूप की प्रकाश रूप ज्योति से निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृत उसका आस्वादन करता हुआ मुक्तावस्था को प्राप्त करता है।

मैं मुक्ति का पथिक क्रोधादि कषायों व विकथाओं में रुचि का त्याग कर निज चिद्काय में डुबकी लगाने का परम पुरुषार्थ करता हूँ।

हे भव्य! तुम्हारी चिद्काय बिना मन-इन्द्रिय, प्रकाश, गुरु, शास्त्र आदि की सहायता के स्वयं से ही अनुभव में आती है। इसलिये परलक्ष्य छोड़कर तुम अपने उपयोग को अपनी चिद्काय में जोड़ने रूप पुरुषार्थ से सकल कर्मों का क्षय कर मोक्ष की प्राप्ति करो।

निज चिद्काय का ध्यान करने वाला आसन्न भव्य जीव विचार करता है कि अहो मेरी चिद्काय! तू धन्य है, धन्य है, तू शाश्वत शुद्ध है, शुद्ध है। तेरी उपमा देने योग्य दूसरा कोई पदार्थ लोक में नहीं है। एकमात्र तू ही वीतरागता उत्पन्न करने के लिए आश्रयभूत है। अपने ही घट में तेरे से भेंट कर मैं पावन हो गया। तू सर्वोत्कृष्ट है। तेरे को पा लेने से अब कर्म शत्रु मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते। तेरी सेवा करने से मैं धन्य हो गया। तेरी सेवा करना ही मेरे योग्य कार्य है। तेरे सन्मुख होते ही मुझे अपार शांति का अनुभव होने लगा। हे मुक्त स्वरूप मेरी चिद्काय! तेरा साक्षात्कार होते ही विश्व के अन्य पदार्थों में सुखबुद्धि का मेरा मिथ्या अंधकार मिट गया है। हे चिद्काय! तेरी अनुपम मूर्ति को देखते ही मुझे शांति होने लगी। तेरी अनुपम मूर्ति अमूर्तिक सुख स्वरूप है। इसलिये तेरी सेवा ही मेरे लिए सुख का कारण है।

'ज्ञानार्णव स्वरूपोऽहम्'

समुद्र में उठती जल की तरंगें।
हैं अभिन्न जल से जल की उमंगें।।
कर्मक्षयात् जो उठे ज्ञान की लहरें।
वे हैं तरंगें निज की निज में उमंगे।।

समस्त ज्ञेय पदार्थों के समूह रूपी रस को पी लेने की अतिशयता से जो मानो उन्मत्त है, जिसकी निर्मल से भी निर्मल केवलज्ञान पर्यायें स्वयमेव उछलती हैं, ऐसा यह भगवान आत्मा, जीवास्तिकाय, अभूतपूर्व अद्भुत निधि वाला, चैतन्य रत्नाकर, ज्ञानार्णव स्वसंवेदन पर्याय रूपी तरंगों के द्वारा उछलता है।

मैं अखंड ज्ञानसमुद्र स्वरूप हूँ। भगवान आत्मा ज्ञानसमुद्र है, एक केवलज्ञान रूप ही है। कर्म के निमित्त से ज्ञान गुण परलक्ष्यी मति, श्रुत, अंवधि, मनःपर्यय रूप जघन्य परिणमन करता है, जो जीव का स्वरूप नहीं है और रागादि रूप अशुद्ध परिणमन कराकर नूतन कर्मों का बंध करता है। कहा भी है-

'अनादि से जीव को कर्म का सम्बन्ध है। कर्म के सम्बंध से देह होती है, देह से इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों से विषय ग्रहण होता है, विषय ग्रहण से राग, द्वेष, मोह होता है। राग, द्वेष, मोह से पुनः कर्म का संबंध होता है। इस प्रकार बीजांकुर न्याय से जीव का संसार चक्र चलता रहता है।'

हे भव्य जीव! यह संसार चक्र भयानक है। इसमें वचन अगोचर नाना दुःखरूप ज्वालाएं धधकती हैं। इस संसार चक्र से मुक्त होने के लिये मन-इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण मत करो और अंतर्मुख होकर अपनी चिद्काय का ही सतत ग्रहण करो। इससे रागादिरूप स्निग्ध परिणाम नहीं होने से कर्म का बंध नहीं होगा और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होकर परम पद मोक्ष की स्वयमेव प्राप्ति होगी। वह परम पद मोक्ष ही तुम्हारा स्वरूप है। संसार में विचरण करना तुम्हारा स्वरूप नहीं है।

'निरूपम अलेप स्वरूपोऽहम्'

दर्शन जु ज्ञान अरु सुख अनन्त जानो।
है निराबाध अवगाह अगुरुलघु बखानो।।
सूक्ष्म सुवीरज अनन्तों गुण अनूपा।
लिप्त हुआ सु मम आतम एक भूपा।।

शुद्धात्मा के उपमातीत गुणों को रत्नत्रयरूप सूर्य की तेज किरणों से प्रकाश में लाया जा सकता है। निज चिद्काय की आराधना से ज्ञानावरण कर्म का लेप दूर होकर अनन्त क्षायिक ज्ञान प्रगट होता है, दर्शनावरण कर्म का लेप दूर होकर अनन्त क्षायिक दर्शन प्रगट होता है, मोहनीय कर्म का क्षय होकर अनंत सुख प्रगट होता है, अन्तराय कर्म का क्षय होकर अंनत वीर्य प्रगट होता है, वेदनीय कर्म का क्षय होकर अव्याबाधत्व गुण प्रगट होता है, नाम कर्म का क्षय होकर सूक्ष्मत्व (अमूर्तत्व) गुण प्रगट होता है, गोत्र कर्म का क्षय होकर अगुरुलघुत्व गुण प्रगट होता है और आयुकर्म का क्षय होकर अवगाहनत्व गुण प्रगट होता है।

कर्मो से आच्छादित आत्मा निज चिद्काय की आराधना से ही उपमातीत गुणों का प्रकाशन करता है।

हे प्रभु! अन्दर देखो। तुम्हारा चिद्काय प्रभु शुद्धात्मा अनुपम गुणों से युक्त है। उपमातीत गुणों का स्वामीपना उसका स्वभाव है। तुम्हारे गुणों पर कर्मों का आच्छादन है, उसको हटाकर अपने गुणों को प्रकाशित करने का पुरुषार्थ करो। प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करो, जिससे पर्याय में निर्मल दशा प्रगट हो। यही एक मार्ग है। अपने उपयोग को अपनी चिद्काया में, अपने प्रभु में लगाने का अभ्यास करने से कर्म कटेंगे और परमात्मा दशा प्रकट होगी। परमात्मा बनने का यही उपाय है। शेष सब संसार भ्रमण के कारण हैं, मायाजाल है।

जिसने इन्द्रियज्ञान को जीता, उसने जीतने योग्य सब जीता। जिसने अपनी चिद्काया को पाया, उसने पाने योग्य सब पाया।

'निरवद्य स्वरूपोऽहम्'

पाप रागादिक कहे, क्रोध लोभ अरु मान।
इनमें चेतन है नहीं, मैं निरवद्य महान।।

मेरा आत्मा पाप रहित, निष्पाप, सावद्य रहित है। मैं निरवद्य स्वरूप हूँ।

हे मुक्ति के पथिक! निरंतर भावना करो कि हिंसादि पाप परिणाम, राग, द्वेष, क्रोधादि विभाव परिणाम मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं इनसे भिन्न निरवद्य स्वरूप हूँ। ख्याति, पूजा, लाभ, निदान, त्रयगारव, त्रयदंड आदि सावद्य परिणाम मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं इनसे भिन्न निरवद्य स्वरूप हूँ।

अहो! हमें चैतन्य भगवान पूर्णानन्द के नाथ निज चिद्काय को पहिचानने का सुयोग प्राप्त हुआ है। प्रत्येक क्षण अमूल्य है। आत्मप्रतीति के बिना उद्धार का कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसलिये अभी ही अंतर्मुखता के अभ्यास के द्वारा आत्मप्रतीति कर लेनी चाहिए। अंतर्दृष्टि से जो अनुभव में आ रहा है वही आत्मा है। आत्मा की रुचि होने पर कर्म का बल नष्ट हो जाता है। यह कर्म अपने चैतन्य की शोभा नहीं, किन्तु कलंक है। मेरा चेतन तत्त्व उससे भिन्न असंग है।

मेरा चेतन तत्त्व, भगवान आत्मा इसी देहरूपी देवालय में पाँव से लेकर मस्तक तक अमूर्तिक असंख्य प्रदेशों का पुंज विराजमान है। जिनवर की तरह ध्यान मुद्रा में बैठकर अपने उपयोग को अपनी चिद्काया में जोड़ने का प्रतिदिन अभ्यास करो। इससे कर्मों का नाश होगा और भगवान आत्मा पर्याय में प्रगट होगा। यही एक उपाय है। इस प्रकार प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करने पर स्वभाव की रुचि होगी। यही सम्यग्दर्शन है, यही धर्मध्यान है, शुद्धोपयोग है।

हे भव्य! निरवद्य स्वरूप प्रगट करने के लिये इन्द्रियों से जानना, मन से विचार करना, वचन और काय की चेष्टा करना छोड़कर एक अपनी दिव्यदेह का अनुभव करो। इससे दिव्यदेह के दिव्य सुख का अनुभव होगा और हिंसादि पाप परिणाम उत्पन्न नहीं होंगे।

'शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपोऽहम्'

चिदानन्द चैतन्य पति, शुद्धातम सुखकार।
पर परिणति से भिन्न है, चिद्काय अविकार।।

हे भव्य! देहाकार तुम्हारी चिद्काय ही चैतन्य आत्मा है। वही तुम्हारा वास्तविक परमात्मा है।

इस चैतन्य आत्मा को निश्चय से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बंध नहीं, मोक्ष भी नहीं हैं। गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा इसमें नहीं हैं। रागादि विभाव परिणाम, अध्यवसान स्थान भी इसमें नहीं हैं। रोग, शोक, उपाधि, आधि, व्याधि भी स्वरूप में नहीं हैं। आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान भी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

मैं सर्व परद्रव्य, परभावों से भिन्न, अनन्त शक्ति का धारक, आनन्द मूर्ति शुद्ध चिन्मात्र जीवास्तिकाय मात्र हूँ।

हे भव्य जीवों! यदि तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो तो स्वतः शुद्ध और सर्व प्रकार से परिपूर्ण आत्मस्वभाव अर्थात् अपनी ही चिद्काय, जो देह प्रमाण है, इसी देह में ही गुप्त रूप है, दूध पानी की तरह मिली हुई है; उसका ध्यान मुद्रा में बैठकर आँखें बन्द करके अनुभव करने का अभ्यास करो; उसी की रुचि, उसी का विश्वास करो, उसी का लक्ष्य और आश्रय करो। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त संकल्प-विकल्पों का त्याग करो। यदि ऐसा प्रयत्न नहीं किया तथा पर लक्ष्य में ही जीवन व्यतीत कर दिया तो आकुलता के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी मिलने वाला नहीं है। ध्यान के द्वारा कर्म नष्ट नहीं करने पर निज चिद्काय के साथ कार्मण देह और तैजस देह साथ जाती हैं, जिससे संसार अनवरत रूप से चलता रहता है।

हे आत्मन् । तू अव्यक्त प्रभु है। तू अपनी चिद्काय को भूला हुआ है। अंतर्दृष्टि कर अपनी चिद्काय का अनुभव कर, जिससे तू प्रगट प्रभु होगा।

'शुद्धाखंडैकमूर्त स्वरूपोऽहम्'

भेदज्ञान साबून भयो, समरस निरमल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निज गुण चीर।।

कपड़ा स्वभाव से स्वच्छ है, उस पर धूल आदि लग जाने से वह मैला हो जाता है। बुद्धिमान पुरुष उस कपड़े को साबुन व पानी के प्रयोग के द्वारा धोकर पुनः स्वच्छ कर उसका उपयोग करता है। ठीक इसीप्रकार यह चैतन्य आत्मा स्वभाव से निर्मल है, शुद्ध है, विमल है, इस पर अनादि से द्रव्यकर्म की धूल लगी होने से मैला है। इसने कभी ध्यान रूपी साबुन व समता रूपी जल लेकर इस पर लगी धूल को छुड़ाया नहीं।

आचार्य संबोधन करते हैं कि हे आत्मन्! तुम यद्यपि स्वभाव से शुद्ध हो, परन्तु ये जो द्रव्यादि कर्म धूलवत तुम्हारे साथ चिपट रहे हैं, उन्हें नष्ट किये बिना शुद्ध स्वभाव प्राप्त नहीं होगा। अतः अपने उपयोग को अपनी चिद्काय में जोड़ने की आवश्यकता है। इसलिये ध्यान मुद्रा में बैठकर अपने चिद् अंग-उपांगों में लीन रहने का अभ्यास करो। अपनी चिद्काय के नाभि, हृदय, मस्तक, नेत्र, कर्ण, मुंह, नासाग्र, ललाट, तालु, भ्रूमध्य आदि स्थान ही तुम्हारे ध्यान के ध्येय हैं। इन स्थानों पर उपयोग को एकाग्र करना ध्यान है, जिससे कर्मों का क्षय होता है और अरिहंत अवस्था की प्राप्ति होती है। हे भव्य! तुम सदा अपने प्रदेशों से रचित अवयवों में लीन रहो।

तेरा चैतन्य आत्मा त्रिकाल शुद्ध है, सदा एक है और चिन्मूर्ति स्वरूप है। आचार्य देव कहते हैं कि अंतर्दृष्टि के द्वारा आत्मा का ग्रहण करना चाहिए। जिसने अंतर्दृष्टि के द्वारा अपनी चिद्काय भगवान आत्मा को अनुभव में लिया है, वह कभी भी पर पदार्थों को या पर भावों को आत्मस्वभाव के रूप में ग्रहण नहीं करता। वह अपने ही जीवास्तिकाय को ही अपने रूप में जानकर उसका ग्रहण करता है। इसलिये वह सदा ही अपनी दिव्य काया में निवास करता है। वह एक समय के लिये भी अपनी चिद्काया को नहीं भूलता।

'अनन्त सुख स्वरूपोऽहम्'

है सुख अनन्त अद्भुत, निज आतमा में।
कैसा भरा यह सुधा घट, शाशता में।।
सुखाभास जग में, तुम को डुबोवे।
क्षायिक अनन्त सुख, मुक्तिपुरी ले जावे।।

हे भव्य आत्मन्! तू सदाकाल इस आनन्दमयी शुद्धात्मा में, अपनी दिव्यकाया में रतिवन्त हो और इसी में हमेशा सन्तुष्ट हो और इसी से सदा तृप्त बन। अन्य कोई पदार्थ कल्याणकारी नहीं है। भगवान चिद्काय और इसका अनुभव ही मुक्ति के कारण हैं। अन्य कुछ तेरा नहीं है। भगवान चिद्काय का अनुभव करने से तुझे अक्षय, अनन्त सुख प्राप्त होगा। इसी सुख को प्राप्त करने का प्रतिदिन प्रयत्न कर।

हे भव्य! तुम स्वयं अनन्त सुख के स्वामी हो, परन्तु वर्तमान में उस सुख से वंचित हो रहे हो। मोहनीय कर्म ने तुम्हारे अनन्त सुख को आच्छादित कर रखा है। निज जीवास्तिकाय के ध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय होते ही अनन्त सुख स्वयं से ही प्राप्त होगा।

तुम्हारा सुख तुम्हारी दिव्यदेह में है, परद्रव्यों में तुम्हारा सुख नहीं है, ऐसा प्रथम निर्णय करो। ऐसा निर्णय कर परद्रव्यों का लक्ष्य छोड़कर निज दिव्यदेह का अंतर्दृष्टि से लक्ष्य करो। इन्द्रियों से उत्पन्न सुख सुखाभास है, दुःख है। इसके पीछे दुःखों का साम्राज्य है, अनन्त संसार है। आत्मसुख अतीन्द्रिय है, अनन्त है, तुम्हारी स्वाभाविक अवस्था है।

आत्मा का सुख आकुलता से रहित है। जो सुख आत्माश्रित है, जिस सुख के साथ कभी दुःख का लेश नहीं, वही आत्मा का यथार्थ सुख है।

अतः मैं बाह्य पदार्थों में सुख बुद्धि का त्याग कर शाश्वत सुख की प्राप्ति हेतु सुख स्वभावी निज चिद्काया की शरण प्राप्त करता हूँ।

'अनन्त शक्ति स्वरूपोऽहम्'

है अचिंत्य शक्ति आतम में, सभी कार्य हो जाते सिद्ध।
स्वयं देव जब बसा हृदय में, कौन कार्य जो हों अवरुद्ध।।
बाह्य परिग्रह से क्या मतलब, जब आतम हो केवल बुद्ध।
पथिक अनन्त शक्ति को समझो, जो होना हो परम विशुद्ध।।

सादि, अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव वाले शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के आधारभूत शुद्ध पुद्गल परमाणु के सदृश, केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य से युक्त जो परमात्मा है, वह ही मैं हूँ।

मैं अनन्त क्षायिक ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति स्वरूप हूँ। मुक्ति के पथिक को इसप्रकार प्रतिदिन भावना करनी चाहिए।

हे आत्मन्! अन्तराय कर्म के आच्छादन से अनन्त शक्ति वर्तमान में प्रगट नहीं है। अपनी चिद्काय का अनुभव करने से अंतराय कर्म का क्षय होगा और तू प्रगट अपने को अनन्त शक्ति स्वरूप अनुभव करेगा।

'अचिंत्यशक्ति स्वयमेव देवः।'

हे भव्य! आत्मा स्वयं अनन्त शक्ति स्वरूप देव है। इसमें ऐसी शक्ति है जो छद्मस्थ के विचार में नहीं आ सकती है।

आनन्दमूर्ति यह आत्मा अनन्त शक्ति का धारक, वांछित कार्य की सिद्धि करने वाला आप ही देव है। इसलिये ज्ञानी को अन्य परिग्रह के सेवन करने से क्या साध्य है? कुछ भी नहीं। आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाने पर अन्तरंग एवं बहिरंग परिग्रह से ज्ञानी को कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

हे भव्य! अशक्ति का नाश करने के लिये अनन्त शक्तिस्वरूप अपनी चिद्काय का सदा अनुभव कर।

'सहजानन्द स्वरूपोऽहम्'

आनन्द सहजानन्द रूपा, एक आतमराम है।
दु:ख नहीं वहाँ सुख नहीं, अरु पुण्य-पाप हराम है।।
उसको रोज आस्वाद भैय्या, जो सहज अभिराम है।
माया, ममता से निराला, सहज सुख का धाम है।।

हे भव्य! तेरा आत्मा स्वयं निश्चय नय से सहजानन्द स्वरूप है। उसको व्यक्त करने के लिए रत्नत्रय की भावना करो, परम समाधि की चाह करो तथा सकल अंतरंग एवं बाह्य परिग्रह के त्यागरूप दिगम्बर मुनि अवस्था प्राप्त करने की भावना करो, क्योंकि अंतरंग-बहिरंग परिग्रह के साथ तेरा सहजानन्द स्वरूप कभी व्यक्त नहीं हो सकता है।

जो आत्मा अपनी चिद्काय के ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय रत्नत्रयरूप भावना के बल से बाह्य विषयों में मोह-ममता नहीं रखता है, वह शीघ्र अपने सहजानन्द को प्राप्त कर लेता है। आत्मा की सहज शुद्ध अवस्था वचनातीत है, जहाँ परद्रव्य का राग अथवा परद्रव्य के संयोग का भी अभाव है, मात्र सहजानन्द है।

हे भाई! प्रत्येक आत्मा में अव्यक्त रूप से सहजानन्द विद्यमान है। तुम्हारा जीवास्तिकाय भी उस सहजानन्द की स्वामी है, उस सहजानन्द को निज जीवास्तिकाय के ध्यान के द्वारा व्यक्त करने की आवश्यकता है। त्रिगुप्ति गुप्त परम समाधि निरत रहता हुआ मुनि उस सहजानन्द को प्रगट करता है।

भगवान कहते हैं कि प्राप्त देह में ही तेरी दिव्य देह का निवास है। तेरी दिव्य में एक सहजानन्द रूपी अमृत भरा हुआ है। ऐसा तू निश्चय कर और सहजानन्द रूपी अमृत का अनुभव करने के लिये सर्व विकल्पों को छोड़कर एक अपनी दिव्य देह का अनुभव कर। इससे सर्व कर्म नष्ट होंगे और तू सहजानन्द को प्राप्त करेगा। बाह्य प्रयत्नों से सहजानन्द का अनुभव होने वाला नहीं है।

'परमानन्द स्वरूपोऽहम्'

परम आनन्द सहित आतम, शुद्ध शांत अनूप है।
दर्शन पाता वह नहीं, जो ध्यान हीन मनुष्य है।।

हे भव्य! तेरा आत्मा परमानन्द स्वरूप है। तेरा परमानन्द अभी तक व्यक्त नहीं हो पाया, क्योंकि अनादि काल से तुमने मिथ्यात्व-रागादि उन्मार्ग को छोड कर एक बार भी अपने उपयोग को अपनी चिद्काय में लगाने का प्रयत्न नहीं किया। तुम्हारी दृष्टि सदा बहिर्मुख ही रही, कभी निज जीवास्तिकाय का अनुभव कर अन्तरामा नहीं बने, बहिरात्मा ही बने रहे। उपयोग सदा बाहर ही रहा। इसी कारण तुम अभी तक परमानन्द स्वरूप अपनी दिव्य देह का आनन्द व्यक्त नहीं कर पाये।

तीन भुवन में अनन्त जीव हैं। वे सब सुख चाहते हैं, लेकिन वे नहीं जानते कि सुख उनकी ही देह के भीतर स्थित निज दिव्य देह में है और अंतर्दृष्टि करने पर अनुभव में आता है। वे बहिर्मुख रह कर बाह्य पदार्थों से ही विषय सुख लेने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये वे सुख से सदा वंचित रहते हैं।

हे भाई! इस मनुष्य देह की आयु पूर्ण होने पर यदि तू अपनी दिव्य काय की रूचि अपने साथ में नहीं ले गया तो तूने इस मानव जीवन में अपना हित नहीं किया। यह दुर्लभ मनुष्य जीवन व्यर्थ ही विषयों में गंवा दिया।

यदि जीवन में परमात्मस्वरूप निज जीवास्तिकाय का अनुभव किया तो उसकी रूचि अपने साथ में ले जायेगा, जिससे कुछ ही भवों में मुक्ति को प्राप्त कर लेगा।

देहरूपी देवालय में परमानन्दमयी आत्मा है, वह निःसंदेह अनादि अनन्त परमात्मा है। परमानन्द को प्राप्त करने के लिये अब मैं मिथ्यात्व, रागादि विकल्प जाल रूप उन्मार्ग को छोड़कर अपने उपयोग को अपनी चिद्काया में लगाता हूँ।

'सदानन्द स्वरूपोऽहम्'

सदा रहता आनन्द जिसमें, वह मैं आतमा राम हूँ।
आत्मानन्द में लीन चेतना, ज्ञानमय अभिराम हूँ।।
इन्द्रिय सुख से भिन्न हूँ, पर नित्य निज सुख में लीन हूँ।
बना रहे निज रूप मुझ में, नित्य ही उसकी खौज है।।

हे जीव! सम्पूर्ण अभ्यन्तर और बहिरंग परिग्रह मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, राग व द्वेष तथा क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड को छोड़कर पूर्ण चारित्र का पालन कर तथा काम क्रोधादिक को नष्ट कर देने वाले पवित्र ध्यान को धारण कर।

निश्चय नय से सदा तुम्हारी दिव्यकाय आनन्द पुंज है, आनन्द मयी है; भीतर आनन्द समुद्र उछल रहा है, फिर भी खेद है कि उसका बोध नहीं होने से तू उदास है, दुःखी है।

हे भाई! दुःखों का मूल कारण परिग्रह है, परिग्रह पिशाच ही तेरे शाश्वत आनन्द का बाधक है, उसे छोड़। अरे भाई! इस साड़े तीन हाथ के शरीर रूपी देवालय में ही तेरी स्वसंवेदनगोचर चिद् देह है, जो देव है, स्व-संवेदन से उसका अनुभव कर। बाह्य देवालय में तेरा देव नहीं है। अपने को भूला हुआ तू कहाँ भटक रहा है? तेरा देव इसी पुद्गल देह में विराजमान है और स्वसंवेदन से अनुभव में आता है। तेरा देव और कोई नहीं है, तू ही तेरा देव है। तू अपनी ही दिव्यकाय को भूला हुआ है। अपने ही भगवान का अनादर कर रहा है। अब तू अंतर्दृष्टि कर के अपनी दिव्य देह की प्रतीति कर और उस का ही अनुभव कर। तू अपनी ही चैतन्य काया का अनुभव नहीं करता है। यही तेरी बड़ी भूल है, जिससे तू चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। तू तेरा ही आत्मघात कर रहा है। अगर यही दशा रही तो तुझे आगे नरक-निगोद जाना पड़ेगा और अनन्त काल संसार में भटकना पड़ेगा।

'चिदानन्द स्वरूपोऽहम्'

निराकर निर्भय सदा, निर्मल चेतन रूप।
चिदानन्द ध्याऊँ सदा, मैं हूँ शिवालय भूप।

जिसप्रकार सिद्ध भगवान व्यक्त रूप से चिदानन्द स्वरूप हैं, उसीप्रकार अभी अव्यक्त रूप से मैं चिदानन्द स्वरूप हूँ।

हे भव्य! सभी विभाव परिणाम से भिन्न चिदानन्द तेरा स्वभाव है। उसी को प्राप्त करने का पुरूषार्थ कर। स्वसंवेदन गुण के अवलंबन से जो पुरूष, ख्याति, लाभ, पूजा व भोगों की इच्छा रूप निदान बंध आदि विभाव परिणामों से रहित होता हुआ शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुए परमानन्द सुख के द्वारा उसी में रंजित हुआ अपनी चिद्काय में अपने मन को संतृप्त कर तल्लीन रहता है, वही जीव चिदानन्द का प्रगट आस्वादन करता है।

जब तक चार घातिया कर्मो का नाश नहीं होता, तब तक आत्मा का पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं होता। जब तक जीव अपने स्वरूप को पहिचान कर उसके अनुभव का पुरूषार्थ नहीं करते, तब तक दुःखी रहते है और संसार में भ्रमण करते है। सभी आत्मा शक्ति रूप से तो परिपूर्ण हैं, किन्तु पर्याय में व्यक्त दशा रूप में पूर्ण हों तो सुख प्रगट होता है, परमात्मा दशा प्रगट होती है। जीवों को अपनी बहिर्मुखता के कारण अपूर्ण दशा है, जिससे ही दुःख है। वह दुःख दूसरे के कारण नहीं है। वे धन-जन को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु चिदानन्दमयी अपनी ही दिव्यदेह को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते।

बहिर्मुखता जन्य अपने ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र के कारण अपनी पर्याय में दुःख है। उस दुःख को दूर करने के लिए अरहंत भगवान के द्रव्य, गुण, पर्याय का निर्णय कर निज जीवास्तिकाय में लीनता करनी चाहिए। निज जीवास्तिकाय को प्रतीति में लेने पर हमारा उपयोग उसमें एकाग्र होता है, जिससे मोह कर्म निराश्रित हो कर अवश्य क्षय को प्राप्त हो जाता है।

'निजानन्द स्वरूपोऽहम्'

तेरा आनन्द तुझ में चेतन, क्यों बाहर में खोजता।
निज की गुण-पर्याय तज कर, क्यों परम सुख मानता।।
अपने गुण की छाँह पकड़ ले, पथिक कहीं ना जाना रे।
पर परिणति पर्यायें तज कर, निज में निज को भजना रे।।

हे आत्मा! इन्द्रियजन्य विषय का आनन्द आनन्द नहीं, आनन्दाभास है। वास्तविक आनन्द शक्तिरूप से परमात्म स्वरूप तुम्हारी चिद्काय में शाश्वत विराजमान है। तुम उस आनन्द के स्वामी हो, तद्रूप हो। इसलिये अपनी चिद्काय में उपयोग जोड़कर उसकी प्राप्ति करो। बाहर मत भटको।

'तेरा आनन्द तुझ में, ज्यों पहुपन में वास।'

हे भव्य! आनन्द को बाहर कहाँ खोज रहे हो? स्त्री के प्रेम में, माँ के वात्सल्य में, पुत्र के राग में अथवा पिता के दुलार में! भाई! तू एक बार निज जीवास्तिकाय को अंतर्दृष्टि करके देख।

भगवान कहते हैं कि तू आनन्द का सागर है, अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया है, परमानन्द स्वरूप है, अनन्त-अनन्त गुणों का भंडार है, सिद्ध समान शुद्ध है, तेरी चिद्काय ही अमृत का सागर है। तू ही परमात्मा है। एक बार अन्दर में अपने प्रभु को देख। तू प्राप्त देह में ही गुप्त है। तू ध्यान मुद्रा में बैठकर नेत्र बंद करके अन्तर्दृष्टि करके स्वसंवेदन से अपनी चिद्काया का अनुभव करेगा तो तेरे संसार का नाश अवश्य होगा। प्रमाद छोड़कर अपने उपयोग को अपनी दिव्य काय के अवयवों में लीन कर, तू शीघ्र ही परमात्मा बन जावेगा।

जैसे जन्मांध पुरुष सूर्य को नहीं देखता है, उसीप्रकार देह के भीतर स्थित आनन्दमयी चिद्देह को ध्यानहीन पुरुष नहीं देखते हैं। किन्तु ध्यान करने वाले पुरुष नियम से सभी दुःखों से छूट जाते हैं और परमात्म तत्त्व को प्राप्त करके अल्प काल में हीं मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

'निरंजन स्वरूपोऽहम्'

शुद्ध निरंजन आत्मा, तीन मलों से दूर।
ज्यो ध्यावे नित ही इसे, करे भव सागर चूर।।

हे भव्य! रत्नत्रय खड्ग को धारण कर त्रिमल शत्रुओं को नष्ट करने का पुरूषार्थ करो। तेरी दिव्यकाय पर कर्म शत्रुओं ने शासन कर रखा है, जिससे तुम्हारा जीवन दुःखमय हो रहा है। अब निज दिव्यकाय का ध्यान करके उसको कर्म शत्रुओं से मुक्त करो।

हे आत्मन्! निश्चय से तुम्हारा न कोई शत्रु है, न मित्र है, तुम निरंजन-निर्विकार, निर्लेप हो। किन्तु पर्याय में तुम्हारा स्वरूप व्यक्त नहीं है। अतः अपना स्वरूप पर्याय में प्रगट करने का पुरुषार्थ करो।

यह भगवान आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य, ज्ञान, दर्शन स्वरूप से पूर्ण कलशवत भरितावस्था रूप है। जैसे डिब्बी में से अंजन के निकलते ही डिब्बी स्वच्छ है, उसी प्रकार यह चैतन्य आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, राग, द्वेष, मोह, ख्याति, पूजादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म के दूर हटते ही निरंजन है, शुद्ध है, निर्मल है, विमल है, शुद्ध स्फटिक मणि सदृश प्रकाशमान तेजपुंज है। अरिहंत भगवान और अन्य सभी आत्माओं के स्वभाव में निश्चय से कोई भी अन्तर नहीं है। अरहंत का स्वरूप अंतिम शुद्ध दशा रूप है। इसलिये अरहंत का ज्ञान करने पर अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता है। स्वभाव से सभी आत्मा अरहंत के समान हैं, परन्तु पर्याय में अन्तर है।

सभी जीव अरहंत के समान हैं। अभव्य भी अलग नहीं हैं। अभव्य जीव भी शक्ति के अपेक्षा अरहंत के समान है, परन्तु व्यक्त होने की योग्यता नहीं है। आत्मा स्वभाव से पूर्ण है, किन्तु बाह्य पदार्थों को ही विषय करते रहने के कारण पर्याय में मलिनता है, अपूर्णता है। यदि जीव अंतरंग पदार्थ निज दिव्य काया को विषय करें तो शीघ्र ही निर्मल अरहंत दशा प्रगट होती है।

‘सहज सुखानन्द स्वरूपोऽहम्’

सहज सुख आनन्द स्वामी, देह देवालय में बसे।
सिद्ध गुण की वन्दना से, उसके दर्शन भी लसे।।
स्वहित सम्पादन में तत्पर, बंधु अब तो जाग जा।
अपनी चिद्काय में ही रमकर, निज से निज के पार जा।।

हे स्वहित सम्पादन में तत्पर मुक्ति पथिक! प्रिय बन्धु! जो कर्ममल से रहित हैं, अत्यंत शुद्ध चैतन्यमय हैं, जो चैतन्य रूपी चांदनी छिटकाने के लिए चन्द्र के समान है तथा जो सर्वगुण सम्पन्न है, केवलबोध के अधिपति हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण कर तथा निश्चय से अपनी चिद्काय का ध्यान कर, क्योंकि जो सिद्ध का स्वरूप है, वही तुम्हारा स्वरूप है। उनका स्वरूप व्यक्त हो चुका है और तुम्हें व्यक्त करना है।

जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण में स्वर्ण, दूध में घी, तिलों में तेल रहता है, उसीप्रकार शरीर में शिवस्वरूप परमात्मा रहता है। जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि शक्तिरूप से रहती है, उसीप्रकार शरीर के भीतर यह आत्मा रहता है। इसप्रकार जो जानता है, वह पण्डित है। यह आत्मा इन्द्रियों के द्वारा अनुभव में नहीं आता है, अंतर्दृष्टि से ही बालगोपाल सब जीवो के अनुभव में आता है, किन्तु बाह्य विषयों में लुब्ध जीव उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं।

हे भाई! तेरी चिद्काय सिद्धों के समान है, सदा परम आनन्दमयी है। यह आत्मा सिद्ध सम शुद्ध स्वाभाविक सुख का भंडार है। उस सहज सुख को प्रगट करने की आवश्यकता है। जो जीव शुद्धात्मा की पारमार्थिक भक्ति से युक्त है अर्थात् जिसने स्वानुभव कर यह दृढ़ विश्वास कर लिया है कि सिद्धालय में स्थित सिद्ध भगवान के समान ही मेरे देह देवालय में स्थित आत्मा अनंत गुणों से युक्त है, उस जीव के मिथ्यात्व और रागादिरूप विभाव भाव नष्ट हो जाते हैं। वह जीव नवीन कर्मो का बंधक न होकर पूर्व कर्मो की निर्जरा करता है। उसको अपनी चिद्काय में अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।

'नित्यानन्द स्वरूपोऽहम्'

सतत आनन्द झर रहा है, आत्मा के हर छोर से।
ज्ञानी भर-भर पी रहा, अज्ञानी रोता मोह से।।
पथिक! समझो कुछ रुको, आनन्द अमृत पिंड हूँ।
पीओ भर-भर के ये अमृत, झर रहा मैं नित्य हूँ।।

निश्चय नय से यह जीवात्मा सतत आनंद स्वरूप है।

हे स्वहित में तत्पर पथिक! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और शुभाशुभ योग ये चार प्रकार के द्रव्य प्रत्यय ही जीव की बहिर्मुखता का आश्रय कर उसके संसार रूपी वृक्ष को हरा-भरा रखते हैं। ये ही निष्कर्म आत्मतत्त्व से विलक्षणता लिये हुए होने से कर्मों को उत्पन्न करने वाले हैं; आत्मा के अव्याबाध नित्यानंद के बाधक हैं। अतः इन चार कर्मों को आत्मा के नित्यानन्द की भावना से युक्त होकर स्वसंवेदनरूप खड्ग के द्वारा नष्ट करो। इससे पूर्व बद्ध कर्मों का संयोग टूटेगा और तुम्हारे नित्यानन्द प्रभु का तुम्हें साक्षात् दर्शन होगा।

बहिर्मुखता के कारण यह जीव संसार अवस्था में अनेक कर्मों का बंधक होता है। वह विषयजन्य आनन्दाभास में ही आनन्द मान कर उस की प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

शुभाशुभ भाव मलिन हैं और निज जीवास्तिकाय निर्मल है, ऐसा यथार्थ भेदज्ञान करो। शुभ भाव में दुनिया धर्म मानती है। यह आश्रव तत्त्व है, आकुलता को उत्पन्न करने वाला है, आत्मा की शांति का उत्पादक नहीं है।

भाई! तुझे दुःख का पंथ छोड़ना हो और सुख के पंथ में लगना हो तो निज जीवास्तिकाय का सतत अनुभव करो। निज जीवास्तिकाय का अनुभव करना ही धर्म है। बहिर्मुखता अधर्म है और अंतर्मुखता धर्म है, ऐसी श्रद्धा करो। कर सकते हो तो निज जीवास्तिकाय का ध्यान करो अन्यथा उसकी श्रद्धा करो। यही कर्तव्य है।

'शुद्धात्म स्वरूपोऽहम्'

सिद्धालय में आन विराजे, केवली अनन्ता।
सिद्ध समान महान जग में, तुम हो महन्ता।।
पथिक! जरा परद्रव्य से, तुम नाता तोड़ो।
जन जीवन विसार, निज से निज को जोड़ो।।

हे भव्य! समस्त बाह्य प्रंपचों से दूर रहो। परस्पर के परिचय से बचो। पर परिचय में दुःख है और निज परिचय में सुख है।

जैसा शुद्धात्मा लोकाग्र में निवास कर रहा है, निश्चय से वैसे ही शुद्धात्मा तुम हो। उन्होंने अपनी निधि को व्यक्त कर लिया है और तुम्हारी निधि कर्मो से आवृत्त है।

अपनी चिद्काय ही प्रभु है। उसका सतत अनुभव करो। यह आत्मा सिद्धों के समान दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, अगुरुलघु, अवगाहन, सूक्ष्मत्व तथा अव्याबाधत्व गुणों से युक्त है, आठ प्रकार के कर्मो से रहित है, शांतरूप है, नित्य है, कृतकृत्य है और लोकाग्र निवासी है।

हे भाई! ऐसा उत्तम योग फिर कब मिलेगा। निगोद से निकलकर त्रस पर्याय पाना भी चिन्तामणि प्राप्त करने के समान दुर्लभ है; फिर हमें तो मनुष्य पर्याय और जैन कुल मिला है। धन और कीर्ति मिलना दुर्लभ नहीं है। ऐसा सुयोग मिला वह अधिक समय तक नहीं रहेगा। इसलिए अभी ही बिजली की क्षणिक चमक में मोती पिरो लेने जैसा है। अब तू अपनी चिद्काय को अनुभव में लेकर कर्मो का नाश करने का सतत उद्यम कर।

हे भव्य! जो निज चिद्काय का अनुभव नहीं करता, वह कर्म के परतंत्र होकर पंच परावर्तन कर संसार में नाना दुःखों का अनुभव करता है। जो निज चिद्काय का अनुभव करता है, वह कर्म शत्रुओं का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर अनन्त आनन्द का अनुभव करता है।

'परमज्योति स्वरूपोऽहम्'

केवल ज्योति मम आतम में बसी है।
ज्ञानादि कर्म रज से वह तो ढ़की है।।
जागो पथिक! तुम इसे अब तो जगाओ।
मुक्ति का पंथ अब तो तुम ना लजावो।।

हे भव्य! रत्नत्रय खड्ग हाथ में लेकर ज्ञानावरणादि रज को दूर हटाओ। तुम देखोगे कि परम ज्योति तुम ही हो। तुम निराबाध रूप से त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य व पर्यायों को एक समय में जानने में समर्थ हो। वह क्षायिक अखंड केवलज्ञान ही परम ज्योति है। हे भाई! परलक्ष्यी मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्याय ज्ञान की टिमटिमाती किरणों का प्रकाश तुम्हारा स्वरूप नहीं है। ये सब विभाव परिणतियाँ है। तुम्हारा आत्मा जीवास्तिकाय प्रखर तेज से दीप्तिमान सूर्य सम प्रखर केवलज्ञान रूप परम ज्योति स्वरूप है।

हे भाई! अन्तर्मुख होकर निज दिव्यकाय का लक्ष्य करने से निर्दोष ज्ञान एवं निर्दोष सुख का अनुभव होता है। परद्रव्यों का लक्ष्य करने से ज्ञान एवं सुख गुणों का परिणमन मलिन हो जाता है। अज्ञानीजन विषयों के लक्ष्य से विषय सुख का अनुभव करते है और अपनी आत्मिक शांति का घात करते हैं। वे आत्मघाती हैं, दुरात्मा हैं।

लोक के जीव बाह्य शरीर को पहिचानते हैं, आभ्यन्तर शरीर निज चिद्काय को नहीं पहिचानते। आभ्यन्तर शरीर के अनुभव को वे बाह्य शरीर का ही अनुभव मानते हैं। आभ्यन्तर शरीर मात्र इन्द्रियगोचर होता है, उसका अनुभव नहीं होता। अनुभव आभ्यन्तर शरीर, निज चिद्काय, शुद्धात्मा का ही होता है। वे आभ्यन्तर शरीर के अनुभव को हेय मानते हैं। इसप्रकार वे अनुभव रूप मोक्षमार्ग को हेय मानते हैं। इसलिये उनको मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना दुर्लभ है। निज चिद्काय का अनुभव करने वाले पुरुष चारों घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त करते हैं।

'स्वात्मोपलब्धि स्वरूपोऽहम्'

सिद्ध शुद्ध निज आतम लब्धि होवे।
तब कर्ममूल चेतन संसार खोवे।।
सिद्ध समान मम आतम नित्य होवे।
है भावना बस यही कब मुक्ति होवे।।

जिस प्रकार सिद्ध भगवान को आत्मोपलब्धि हुई है, उसी प्रकार शुद्धनय से मैं भी आत्मोपलब्धि स्वरूप हूँ। आत्मा की उपलब्धि होने पर जैसा उनका स्वरूप प्रगट हुआ है, वैसा ही मेरा स्वरूप है।

हे मुक्ति के पथिक! जैसे कर्मबंधन से मुक्त, सर्व विभाव भावों से रहित सिद्धात्मा हैं, वैसे ही तुम हो। वे सिद्धात्मा जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा आदि सर्व दोषों से रहित हैं, वही स्वरूप तुम्हारा है। ऐसा दृढ श्रद्धान करो। आत्मोपलब्धि के लिये प्रथम जिन्होंने आत्मोपलब्धि की है, ऐसे सिद्धों की आराधना करो।

मैं मुक्ति का राही उन्हीं सिद्धात्माओं के चरण चिन्हों पर चलकर स्वात्मोपलब्धि को शीघ्र प्राप्त करूँ, ऐसी नित्य भावना करता हूँ, क्योंकि मै तद्रूप हूँ।

हे जीव! जैसी तेरी मति होगी उसी अनुसार तेरी गति होगी। जो मति तेरे चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा के सन्मुख न रहकर परद्रव्यों के सन्मुख होगी तो तुझे बार-बार मरकर संसार की चारो गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा। कहा भी है-

'जैसी मति वैसी गति, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।'

हे भव्य जीव! सर्व प्रकार के विकल्प जालों को छोड़कर सिद्ध समान अपनी चिद्काय का नेत्र बंदकर सदा ध्यान करो। देव दर्शन और सर्व आगम ज्ञान का फल निज चिद्काय का ध्यान करना है।

'शुद्धात्मानुभूति स्वरूपोऽहम्'

सिद्ध समान शुद्ध मम आतम, यही भावना मेरी रे।
पर परिणति पर्याय हटाकर, करूँ प्राप्ति अब तेरी रे।।
मै अमूर्त अतीन्द्रिय चेतन, शुद्ध निजातम केरी रे।
सिद्धालय में वास करूँ मैं, सिद्ध प्रभु की चेरी रे।।

मैं अपने शुद्ध आत्मा की अनुभूति स्वरूप हूँ।

निज दिव्यकाय के अनुभवरूप रत्नत्रय की आराधना के द्वारा भूतकाल में सिद्ध हुए हैं, आज हो रहे हैं और आगे होंगे। निज दिव्यकाय के अनुभव रूप रत्नत्रय की आराधना करना ही मेरा स्वरूप है। शुद्धात्मानुभूति करने वाले सिद्धों का जो स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है। इसलिये मैं सतत उसी शुद्ध आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ।

हे भव्य! भगवान सिद्ध परमेष्ठी जिस प्रकार अपनी चिद्काय का अनुभव करते हैं, वैसे ही तुम भी अपनी चिद्काय का अनुभव करो। संसार समुद्र से पार मुक्ति धाम में पहुँचने का आत्मध्यान ही एक उपाय है। इसलिये अपनी चिद्काय का सतत स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अनुभव करो।

'शुद्धात्म संवित्ति स्वरूपोऽहम्'

जो हूँ वह हूँ, मैं हूँ आतम, नहीं पर द्रव्यों से वासता।
अपना चेतन अपने भीतर, रहता निज गुण सासता।।
गुणस्थान आदि में देखा, कहीं नजर नहीं आवता।
अपने से ही परदा करता, अपने घर को भासता।।

जिस प्रकार भगवान सिद्ध परमेष्ठी अपने शुद्ध आत्मा की संवित्ति स्वरूप हैं, उसी प्रकार स्वभाव से सर्व संसारी आत्मा भी आत्म संवित्ति स्वरूप हैं और काललब्धि आदि को पाकर साक्षात् शुद्धात्म संवित्ति रूप होकर सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

'परमात्म स्वरूपोऽहम्'

हूँ चेतन निर्मल अभिराम।
पर परिणति का अब क्या काम।।
मैं हूँ परमात्म के समान।
अपने में पाऊँ विसराम।।

मैं अरहन्त परमात्मा स्वरूप हूँ। मैं सिद्ध परमात्मा स्वरूप हूँ।

जो परमात्मा हैं, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ, भ्रांति रहित होकर ऐसी भावना कर। मोक्ष का कारण कोई अन्य मंत्र-तंत्र नहीं है।

जिसप्रकार अर्हंत भगवान घातिया कर्मों का क्षयकर सकल परमात्मा बन गये हैं तथा सिद्ध भगवान अष्टविध कर्मो का क्षय करके निकल परमात्मा बन गये हैं, उसीप्रकार अव्यक्तरूप से मेरा आत्मा भी परमात्मा स्वरूप है।

हे आत्मन! तू अर्हंत स्वरूप है। जो अर्हंतों का स्वरूप है वही तेरा स्वरूप है। इसलिये तू भी भगवान की तरह ध्यान मुद्रा में बैठकर अपनी देह प्रमाण दिव्य काया जो सिद्ध समान है उसी में अपने उपयोग को लीन करने का प्रतिदिन अभ्यास कर। इससे तू राग-द्वेष आदि विभाव परिणामों को शीघ्रता से छोड़ देगा।

हे मुक्ति के पथिक! प्रतिदिन यह भावना कर कि कब ऐसा अवसर आवे जब गृहस्थपना त्यागकर रत्नत्रय रूप मुनिधर्म अंगीकार कर निज स्वभाव साधन के द्वारा कर्मों का नाश कर सिद्ध पद प्राप्त करूँ।

बहिरात्मपना दुःखमय संसार में भ्रमण करने का कारण है, अतः त्यागने योग्य है। अन्तरात्मपना सुखमय मोक्ष में निवास का कारण है, अतः ग्रहण करने योग्य है। अन्तरात्मा बनना ही परमात्मा बनने का उपाय है।

जो जीव सर्व व्यवहार को छोड़कर निज चिद्काय में रमण करता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव है और वह शीघ्र ही संसार से पार होकर परमात्मा हो जाता है।

'निश्चय पंचाचार स्वरूपोऽहम्'

सकल सिद्धि दातार हैं, निश्चय पंचाचार।
तिन की प्राप्ति हेतु आत्मा, वेष दिगम्बर धार।।

मेरी आत्मा स्वभाव से निश्चय दर्शनाचार, निश्चय ज्ञानाचार, निश्चय चारित्राचार, निश्चय तपाचार और निश्चय वीर्याचार स्वरूप है।

हे भव्य! जैसे सिद्ध भगवान की आत्मा निश्चय पंचाचार से पूर्ण है, वैसे ही तेरा आत्मा भी निश्चय पंचाचार स्वरूप है। अपने निश्चय पंचाचार स्वरूप को पर्याय में प्रगट करने के लिये अपनी दिव्यकाय का सदा अनुभव करो।

परम उपेक्षा संयमी दिगम्बर साधु शुद्धात्मा की आराधना के अतिरिक्त सभी अनाचार को छोड़कर सहज चैतन्य के विलास लक्षण वाले निरंजन निज परमात्वतत्त्व की भावना रूप आचार में सहज वैराग्य भावना से तन्मय रूप हुआ स्थिर भाव को करता है। वह तपोधन निश्चय पंचाचार का आचरण करने वाला होता है।

हे भव्य! तुम्हारा आत्मा भी सिद्ध भगवान के समान क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक चारित्र, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य स्वरूप है। अन्तर मात्र इतना है उन्होंने ध्यान के द्वारा निज चिद्काय का परिमार्जन कर लिया है, अष्टविध कर्म से रहित कर लिया है और तुमने करना है।

आत्मदर्शन से ही भूतकाल में सिद्ध हो चुके हैं, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे।

मैं संसार के मोहजाल को छोड़कर व्यवहार पंचाचार को अंगीकार करता हूँ तथा निश्चय पंचाचार का स्वामी बन अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा स्थिर होकर पर्याय में पवित्र होता हूँ।

मैं भव के दुःखों का नाश करने के लिये दुःखों का नाश करने के स्वभाव वाली अपनी चिद्काय का आश्रय करता हूँ।

'समयसार स्वरूपोऽहम्'

ओ पथिक ! जाग अब बाहर ना भटकना।
सारे विकल्प तज अपने में अटकना।।
भीतर छिपा अमृत घट का है जो प्याला।
पीता वही जो मदमस्त निजात्म वाला।।

जिसप्रकार अरिहंत-सिद्ध परमेष्ठी समयसार स्वरूप हैं, उसीप्रकार मैं भी स्वभाव से समयसार स्वरूप हूँ।

हे भव्य! तुम स्वयं भी समयसार स्वरूप हो। अपने समयसार स्वरूप को पर्याय में उपलब्ध करने के लिए मोह, मद, कषाय, राग, द्वेष, सर्व दोषों का त्याग करो। तुम्हारा समयसार प्राप्त देह के भीतर देह प्रमाण है, वह स्वसंवेदन से तुम्हारे अनुभव में आ रहा है, उसकी प्रतीति नहीं होने से उपयोग चिद्काय से बाहर जाने से पर्याय में मलिनता होती है और निरंतर कर्मों का आस्रव और बंध होता रहता है।

हे भव्य! अन्तर्दृष्टि कर अपने भगवान को देखने का पुरुषार्थ करो।

जो लोग नयों के विकल्पों को छोड़कर सदा अपने स्वरूप में, चिद्काय में लीन रहते हैं, वे सभी प्रकार के विकल्प जाल से रहित शांत चित्त वाले होते हैं, वे ही साक्षात् अमृत का, समयसार का पान करते हैं। वे ही ज्ञानी पुरुष हैं।

अर्हंत व सिद्ध भगवान की आत्मा ज्ञानादि आठ मदों से रहित है, ममता परिणाम से रहित है, क्षुधादि अठारह दोषों से रहित है। क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तीन वेद इन नोकषायों से रहित है, अत्यंत विशुद्ध प्रशांत मूर्ति है, इसलिये उनकी आत्मा शुद्ध कहलाती है। वही समय है और विशुद्ध आत्मा के रत्नत्रय अनन्त चतुष्टयादि गुण उस शुद्ध आत्मा का सार है; ऐसे समयसार को मेरा त्रिकाल नमस्कार है, इसकी मुझे शीघ्र उपलब्धि हो।

अध्यात्मसार स्वरूपोऽहम्

आत्माश्रित अध्यात्म सार को, स्व समय नाम से पहिचानो।
रत्नत्रय आराधन से तुम, उसकी प्राप्ति को मानो।।
साधन के बिना साध्य न होवे, सिद्धांत यही उर में लाओ।
व्यवहार रत्नत्रय साधन लेकर, निश्चय सिद्धि कर डालो।।

निश्चय से मैं अध्यात्मसार स्वरूप हूँ।

हे आत्मन्! जब यह जीव सर्व पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान की ज्योति के उदय होने से सब पर द्रव्यों से पृथक् होकर निज चिद्‌काय से एक रूप होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिर होने से स्वसमय है, अध्यात्मसार है।

जो मन-इन्द्रिय द्वार से पुद्गल द्रव्य को ग्रहण करता है, वह परसमय है।

अनन्त काल से अनन्त जीव संसार में भ्रमण कर रहे हैं और अनन्त काल से अनन्त जीव अपने स्वरूप की, अपनी चिद्‌काय की प्रतीति और अनुभूति कर मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं।

इस जीव ने धन-जन का पक्ष अनादि से ग्रहण किया है, परन्तु सिद्ध परमात्मा समान अपने चिद्‌तन का पक्ष कभी भी ग्रहण नहीं किया है। इसलिए उसका संसार में परिभ्रमण हो रहा है।

जो दुर्धर तप करता है और सर्व शास्त्रों को जानता है, किन्तु निज चिद्‌काय के ध्यान से रहित है, वह अध्यात्म के सार को प्राप्त नहीं करता है।

जब तक उपयोग अंतर्मुख नहीं होगा, तब तक निरंतर रागादि उत्पन्न होंगे, कर्मों का आस्रव-बंध चालू रहेगा। इसलिये उपयोग को अंतर्मुख कर अपनी चिद्‌काय का अनुभव करने का अभ्यास करना चाहिए। इसी से रागादि उत्पन्न नहीं होंगे, कर्मों का क्षय होकर निर्वाण की प्राप्ति होगी।

'परम मंगल स्वरूपोऽहम्'

मंगल मय मम आत्मा, सर्व मलों से दूर।
भक्ति भाव से नित जजै, होय कर्ममल चूर।।

निज प्रदेशों और गुणों की अपेक्षा मैं परम मंगलस्वरूप हूँ।

चत्तारि मंगलं। अरहंता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं। केवली पण्णत्तो धम्मो मंगलं।

व्यवहार से चार मंगल हैं। अरहंत भगवान परम मंगल हैं, अष्ट कर्मों से रहित सिद्ध भगवान परम मंगल हैं तथा रत्नत्रय के आराधक षष्ठम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्व साधु परम मंगल हैं और केवली भगवान द्वारा प्रणीत धर्म मंगल है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से मंगल तीन प्रकार का है।

निश्चय से एक जीव मंगल है। द्रव्यार्थिक नय से मंगल पर्याय परिणत जीव मंगल है और पर्यायाथिक नय से केवलज्ञानादि शुद्ध पर्यायें मंगल हैं।

जो ज्ञानावरणादि द्रव्यमल और रागादि भाव मल को गलाता है, वह मंगल कहलाता है। जो पाप को गलाता है और सुख को लाता है, वह मंगल कहलाता है।

हे भव्य! निश्चय से तेरी चिद्काय परम मंगल स्वरूप है। तेरा शरीर भी तेरी चिद्काय का आधारभूत होने से व्यवहार से नोआगमद्रव्य मंगल है। तेरी चिद्काय द्रव्य, भाव कर्म मल का नाश करने वाली और अतीन्द्रिय आनन्द को लाने वाली है। हे भव्य! तू मंगलस्वरूप अपनी देह प्रमाण चिद्काय की आराधना कर। सम्यग्दृष्टि विचार करता है–

परकाय नहीं चाहता, चाहूँ निज चिद्काय।
निज चिद्काय में लीन हो मेटूँ सकल विभाव।

'परमोत्तम स्वरूपोऽहम्'

परम उत्तम आतमा यह, ज्ञान केवल पूर है।
जग के सब द्वन्द्वों से हटकर, निज गुणो में चूर है।।
पाता वही जो कुलाचार से, मूल व्रत में शुद्ध है।
आत्मगुण शालीनता से, आतम रस में पूर है।।

निज प्रदेशों और गुणों की अपेक्षा मैं परम उत्तमस्वरूप हूँ। निश्चय से मेरी चिद्काय परम उत्तम स्वरूप है। मैं अंतर्दृष्टि कर उसमें लीनता करता हूँ।

चत्तारि लोगुत्तमा। अरहंता लोगुत्तमां। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमां। केवली पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

व्यवहार से लोक में चार उत्तम हैं। अरहंत भगवान लोक में उत्तम हैं, अष्ट कर्मों से रहित सिद्ध भगवान लोक में उत्तम हैं तथा रत्नत्रय के आराधक षष्ठम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्व साधु लोक में उत्तम हैं और केवली भगवान द्वारा प्रणीत धर्म लोक में उत्तम है।

जो भव्यात्मा अरहंतादि परमेष्ठी को द्रव्य, गुण, पर्याय से जानता है; वह अपनी देह में विराजमान निज अरहंतादि परमेष्ठी का अनुभव करता है और अरहंतादि परमेष्ठी पदों को प्राप्त कर लेता है।

अज्ञानी जीव अनुत्तम जड़ पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, किन्तु उत्तम निज चिद्काय को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता है। इसलिये संसार में परिभ्रमण कर नाना दुःखों को भोगता है।

तीन लोक का वैभव एक ओर हो और अपनी चिद्काय दूसरी ओर हो तो तीन लोक के वैभव को छोड़कर अपनी चिद्काय का ही ग्रहण करना चाहिए।

हे भव्य! तू उत्तम मोक्षस्वरूप अपनी देह प्रमाण चिद्काय की आराधना कर और शीघ्र उत्तम मोक्ष पद को प्राप्त कर।

'परम शरण स्वरूपोऽहम्'

शरणा जिसका पाय कर, आतम होय विशुद्ध।
परम शरण जग में वही, कह गये ज्ञानी बुद्ध।।

निज प्रदेशों और गुणों की अपेक्षा मैं परम शरणस्वरूप हूँ।

णिय दिव्व देह सरणं पव्वज्जामि। मैं निज दिव्य देह की शरण प्राप्त करता हूँ।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवली पण्णत्तो धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

मैं अरहंत, सिद्ध, साधु और जिन धर्म की परम शरण को प्राप्त करता हूँ।

व्यवहार से लोक में चार शरण हैं। अरहंत भगवान लोक में परम शरण हैं, अष्ट कर्मों से रहित सिद्ध भगवान लोक में परम शरण हैं तथा रत्नत्रय के आराधक षष्ठम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्व साधु लोक में परम शरण हैं और केवली भगवान द्वारा प्रणीत धर्म लोक में परम शरण है।

आपका आप ही रक्षक है। आपको आप की ही शरण है।

हे भव्य! निश्चय से तेरी चिद्काय ही तुझको परम शरण है। तू उसकी शरण प्राप्त कर।

हे भव्य! तेरी चिद्काय ही तेरी है, अमर है, किन्तु कर्म के सम्बन्ध से भव-भव में मरण को प्राप्त करती है। उसका अनुभव करके उसकी रक्षा कर।

जिस पदार्थ का आश्रय लेने से जीव का कभी पतन नहीं हो, वही शरण है। हे भव्य! जो जीव निज चिद्काय की शरण प्राप्त नहीं करता है, उसका अवश्य ही पतन होता है, वह चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता है। जो जीव निज चिद्काय की शरण प्राप्त करता है, उसका कभी पतन नहीं होता है, अपितु उत्थान होता है। वह तीन लोक का शिरोमणि सिद्ध परमात्मा होता है।

'सकल कर्म क्षय कारण स्वरूपोऽहम्'

परम विशुद्ध चिदानन्द अनुभव करना मेरा काम।
अपने पद में थिर रह करके, स्वाध्याय है मेरा धाम।।
अरहंत सिद्ध सम मेरा आतम, उस को अब प्रकटाऊँगा।
अपनी शक्ति व्यक्त करूँ, अब ऐसा ध्यान लगाऊँगा।।

मैं सकल कर्मक्षय का कारण हूँ।

हे भव्य! निज चिद्काय आश्रय करने पर सकल कर्म क्षय का कारण है। निज चिद्काय अनादिनिधन है, परम पारिणामिक भाव है, कारण परमात्मा है। निज चिद्काय का आश्रय करना मोक्ष का मार्ग है, सकल कर्म क्षय का कारण है।

हे भव्य! नेत्र बन्द कर अपने उपयोग को सकल कर्मक्षय के कारणभूत अपनी चिद्काय में लगाने का प्रयत्न कर।

मेरी दिव्यकाय अनन्त दिव्य गुणों से पूर्ण भरितावस्था रूप है, सकल कर्मक्षय के लिए कारण स्वरूप है।

हे पथिक! अनादि काल से सुख के लिये जगत के कण-कण को अनन्त बार जी भर-भर कर देखा-जाना, लेकिन तुम्हें आज तक तृप्ति नहीं हुई। कभी आँखें बंद भी करते हो तो मन से विचार करने लगते हो। दिल-दिमाग में एक ही तमन्ना लगी रहती है कि दुनिया के सारे पदार्थों को बारम्बार देखूँ। अब बाह्य पदार्थों को देखने-जानने से बस करो। सुख अपनी चिद्काय में है। इसलिये अपनी चिद्काय को ही बारम्बार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष देखो। बाह्य पदार्थों के सन्मुख होकर देखना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। मोहकर्म के उदय से ही जीव बाह्य पदार्थों को सन्मुख होकर देखता है और रागादि रूप परिणमन कर नूतन कर्मों का बंध करता है।

हे आत्मन्! निज चिद्काय के ध्यान के द्वारा सकल कर्मों को नष्ट करो। इनके नष्ट होते ही शाश्वत सिद्ध अवस्था की स्वयमेव प्राप्ति हो जायेगी।

'परम स्वास्थ्य स्वरूपोऽहम्'

जन्म-मरण अरु जरा रोग से, रहितावस्था निरोग समझो।
पथिक! न भटको इधर-उधर, अब निज शुद्धात्म को भजो।।

परम स्वास्थ्य की प्राप्ति जीवो का प्रयोजन है। कहा भी है-

'पहला सुख निरोगी काया।' अविनाशी स्वरूप लीनता करने से जीवो को परम स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

'स्वस्थित इति स्वास्थ्य।' अपनी चिद्काय में स्थिति स्वास्थ्य है। स्वास्थ्य निर्दोष सुख का लक्षण है। निर्दोष सुख निज चिद्काय में स्थित होने से प्राप्त होता है।

बहिर्मुखता से रागादि दोषों की उत्पत्ति होती है। रागादि दोषों से कर्म का बंध होता है। कर्मोदय से रोगों की उत्पत्ति होती है, रोगों से स्वास्थ्य की हानि होती है, जीव दुःखी होता है।

सिद्ध परमात्मा अशरीरी होने से जन्म, मरण, जरा रोग आदि से अत्यन्त मुक्त हो चुके हैं। इसलिये वे परम निरोगरूप परम स्वास्थ्य को प्राप्त हैं।

हे भाई! तेरा आत्मा भी निश्चय से जन्म, मरण, जरा, रोग आदि से अत्यन्त रहित परम स्वास्थ्य स्वरूप है। अतः अब उस परम स्वास्थ्य की व्यक्ति के लिए तुम अपनी चिद्काय की आराधना करो।

अब मैं निज चिद्काया में लीनता करता हुआ परम स्वास्थ्य में स्थित होता हूँ। स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये बाहर कुछ नहीं करना है। मात्र निज चिद्काय में स्थित होकर उसका परिमार्जन करना है, कर्ममल को उससे पृथक् करना है। रोग पुद्गल काय का आश्रय कर होते हैं। कर्ममल पृथक् होने पर शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये रोगों की उत्पत्ति होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता और आत्मा परम स्वास्थ्य रूप ही सदा परिणमन करता है।

चिद्काय का गीत

प्रभु आपने एक चिद्काय ही दिखाई।
चिद्काय की आराधना की विधि बताई।।
चिद्काय का रूप मुझे आज भाया।
महानन्द मैंने चिद्काय में ही पाया।।
भव-भव भटकते बहुत काल बीता।
रहा आज तक मोह मदिरा ही पीता।।
फिर ढुंढता सुख विषयन के माहिं।
मिली किन्तु उनमें असह्य वेदना ही।।
महा भाग्य से अपने को देव पाया।
महा भाग्य से चिद्काय को पाया।।
चिद्काय ही प्रभु है दिखे आज मुझको।
महा हर्ष मानो मिला मोक्ष ही हो।।
अनादि की बहिर्मुख बुद्धि पलाई।
बहिर्मुखता ही है प्रभो दोष भारी।।
सर्वांग सुखमय स्वयं शुद्ध निर्मल।
शक्ति अनन्तों चिद्काय एक अविचल।।
चिन्मूर्ति चिद्काय भगवान आत्मा।
तिहूँ जग में नमनीय चिद्काय चिदात्मा।।
तिहूँ लोक में नाथ आराध्य जताया।
हो अद्वैत वन्दन प्रभो हर्ष छाया।।
चिद्काय ही आपका देव है, आप आपका ध्येय।
अखिल विश्व में चिद्काय ही, है परम उपादेय।।

ॐ शांति शांति शांति

चिद्काय की आरधाना ही मोक्ष का द्वार है। चिद

याही नरपिंडमैं विराजे त्रिभुवन थिति,
याहीमैं त्रिविधि – परिनामरूप सृष्टि है।
याहीमैं करमकी उपाधि दुख दावानल,
याहीमैं समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है।।
याहीमैं करतार करतुतिहीमैं विभूति,
यामैं भोग याहीमैं वियोग यामैं घृष्टि है।
याहीमैं विलास सब गर्भित गुपतरूप,
ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है।।

समयसार नाटक, बंध द्वार, श्लोक 46

'इसी मनुष्य शरीर में तीन लोक प्रमाण निज चिद्काय स्थित है, इसी में शुभोपयोग अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये तीन प्रकार के परिणाम हैं, इसी में कर्म की उपाधि जनित दुःखरूप अग्नि है, इसी में निज चिद्काय के ध्यानरूप सुख की मेघवृष्टि है, इसी में कर्म का कर्ता आत्मा है, इसी में इसकी क्रिया है, इसी में इसकी आनन्दरूप विभूति है, इसी में कर्म का भोग या वियोग है, इसी में भले–बुरे गुणों का परिणमन है और इसी देह में सर्व विलास गुप्तरूप गर्भित है; परन्तु जिनके अंतर सुदृष्टि है, उन्हीं को यह विलास प्रगट होता है।'

अंतर – दृष्टि लखाउ, निज सरूपकौ आचरन।
ए परमातम भाउ, शिव कारन येई सदा।।

समयसार नाटक, पुण्य– पाप एकत्वद्वार, श्लोक 10

हे भव्य जीवो! अपने मनुष्य शरीर का मूल्य जानो। नेत्र बंद कर अंतर्दृष्टि कर इस मनुष्य शरीर में विराजमान सर्व विलास की धारक निज चिद्काय का अनुभव करो, इसमें रति करो, इसमें ही संतोष धारण करो और इसी से तृप्ति का अनुभव करो। तुम्हें अवश्य उत्तम सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी।

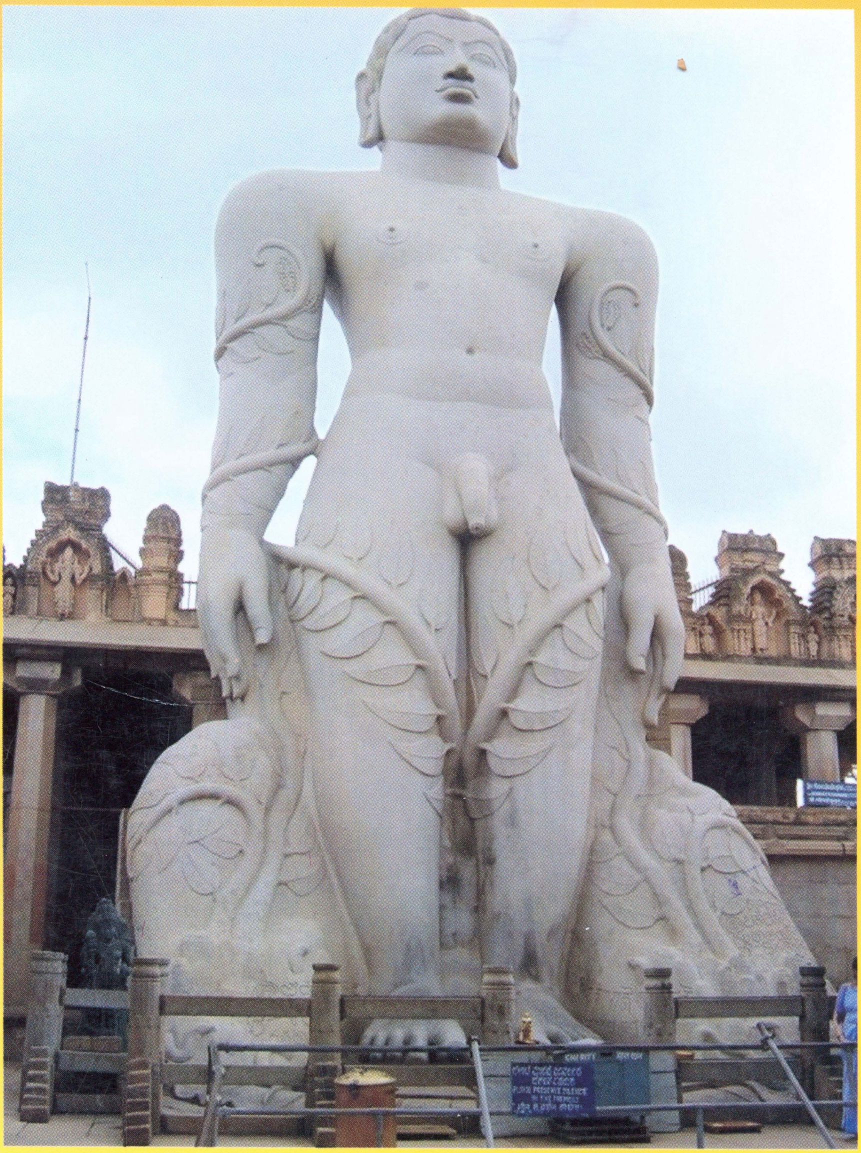

चिद् काय ही मंगल है
चिद् काय ही उत्तम है
चिद् काय ही शरण है
चिद् काय ही आराध्य है

Designed & Printed at PRINTXPRESS # 9001099202